चीन की लूट-खसोट (1860-1900)

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि अक्टूबर, 1860 की पिकिंग की सन्धि से पाश्चात्य देशों के लोगों को चीन में काफी अधिकार मिल गए। लेकिन, यह तो केवल प्रारम्भ था; वृहत पैमाने पर चीन की लूट-खसोट तो अब होनेवाली थी। चीन की कमजोरी से विदेशी लोग भलीभाँति परिचित हो गए थे और अब उन्होंने निम्नकोटि के लुटेरों का रूप धारण कर चीन को और अधिक चूसने का प्रयास किया। अब वे चीन में पूरी मनमानी करना चाहते थे। 1865 ई० में लॉर्ड क्लेरेंडन ब्रिटेन का विदेशमन्त्री था और साम्राज्य की ओर उसका झुकाव थोड़ा कम था। लन्दन में बार्लिंगम ने उससे भेंट की थी और यह आश्वासन प्राप्त कर लिया था कि चीन के मामले में ब्रिटिश सरकार धैर्य से काम लेगी। चीनी अधिकारी वर्ग का मत था कि सन्धि के द्वारा विदेशियों को बहुत अधिक रियायतें दे दी गई हैं। इस कारण, यह खतरा सदैव बना रहता था कि चीनी जनता का विदेश विरोधी वर्ग विदेशियों पर आक्रमण न कर दे। उधर ब्रिटिश नागरिकों तथा बन्दरगाहों में रहनेवाले अधिकांश विदेशी व्यापारियों का मत था कि उन्हें बहुत कम सुविधाएँ मिली हैं। वे चाहते थे कि चुंगी की दरें घटा दी जाएँ और उन्हें चीन के अन्दरूनी भाग में काम करने की पूरी छूट दी जाए। लेकिन, लॉर्ड क्लेरेंडन और ब्रिटिश राजदूत रदरफोर्ड अलकाक उन पर नियंत्रण रखे रहे और उन्होंने बल प्रयोग करने से इनकार कर दिया।

ईसाई धर्मप्रचारकों की हरकतें—उस समय चीन मे ईसाई धर्मप्रचारकों ने काफी ऊधम मचा रखा था और उनकी हरकतों के कारण चीन और पश्चिम में एक दूसरा संघर्ष अनिवार्य हो गया। 1858 ई० की तीन्तसिन की सन्धि के अन्तर्गत इसाई धर्म और उसके प्रचारकों को चीन में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी दर्जा प्राप्त हो गया था। वे लोग पारपात्र लेकर चीन के किसी भाग में आ-जा सकते थे। ईसाई मिशनरियों को अन्दरूनी भाग में निवास, भूमि की खरीद-बिक्री करने, गिरजे और स्कूल बनवाने तथा बिना किसी बाधा के ईसाई धर्म का प्रचार करने का अधिकार मिल गया था। वस्तुतः, चीन में मिशनरियों को अर्द्ध सरकारी स्थिति प्राप्त हो गई थी जिसके फलस्वरूप उन्हें अपने निवास, क्षेत्र में देशी अधिकारी के बराबर का दर्जा मिल गया था। इस हालत में ईसाई पादरी रात-दिन शरारत में जुटे रहते थे। वे हर चीनी को, जो ईसाई बन जाता था, चीनी कानून और अफसरों से बचाने का दावा करते थे। इसके अतिरिक्त, वे बड़े असहिष्णु थे और चीनी परम्पराओं तथा मान्यताओं पर, विशेष रूप से पितृपूजा पर, खुला आघात करते थे। नैतिक दृष्टिकोण से भी चीन की जनता इन मिशनरियों से घृणा करती थी। इसका कारण था कि इन मिशनरियों में केवल पुरुष ही नहीं थे, बल्कि पश्चिमी देशों की औरतें भी धर्मप्रचार का कार्य करती थीं। इन औरतों में अधिकतर अविवाहित युवतियाँ होती थीं। अविवाहित औरतों और पुरुषों का एक साथ घूमना चीन की जनता को सह्य नहीं था। नैतिक दृष्टि से चीनी इसे बुरा मानते थे और इस बात से भयभीत थे कि इसका प्रभाव चीन के सामाजिक जीवन पर भी पड़ सकता है। उस समय चीन में यह आम मान्यता थी कि ईसाई अस्पताल और अनाथालय दरिद्र माताओं के अभागे बच्चों को खरीद लेते हैं और उनकी आँखें निकालकर उनसे एक भयावह औषधि बनाते हैं। इस दवा का सेवन करनेवाला ईसाई बन जाता है।

इस अफवाह की पृष्ठभूमि में 1870 ई० में तीन्तसिन का नरमेध हुआ। एक उत्तेजित भीड़ ने कैथोलिक अनाथालय और पास के गिरजाघर पर हमला कर फ्रांसीसी अधिकारियों, दो पादरियों, दस भिक्षुणियों और कुछ विदेशियों तथा उनके चीनी नौकरों की हत्या कर दी। इस घटना से सभी बन्दरगाहों में आतंक फैल गया। फ्रांसीसी, ब्रिटिश एवं अमेरिकी युद्धपोत तुरत ही तीन्तसिन के पास पहुँच गए। चीनी सरकार को अपराधियों को मृत्युदण्ड देना पड़ा और इसके अलावा फ्रांस को ढाई लाख तैल मुद्राओं का हरजाना देकर माफी माँगनी पड़ी। इस घटना ने चीन और विदेशियों के बीच संघर्ष का दूसरा दौर प्रारम्भ कर दिया।

मार्गेरी-काण्ड और 'चेफू-समझौता'—1875 ई० में इसी तरह की एक दूसरी घटना घट गई। विदेशी व्यापारी बहुत दिनों से बर्मा-सीमा की ओर से चीन के पश्चिमी प्रान्तों में पहुँचना चाहते थे। युन्नान जाने के लिए 1874 ई० में कर्नल होरेस ब्राउन के नेतृत्व में एक अनुसंधान दल संगठित किया गया। इसका उद्देश्य यह पता लगाना था कि इस मार्ग में सुरक्षित यात्रा सम्भव है या नहीं। दल का दुभाषिया ऑस्टस्ट मार्गेरी नाम का एक अँगरेज था। जब यह दल भागो से आगे बढ़ा तो उस इलाके के लोगों के एक झुण्ड ने इसे दबोच लिया तथा मार्गेरी तथा उसके साथियों की हत्या कर दी। इस सीमावर्ती इलाके में रहनेवाले कबीले चीनियों के नियन्त्रण से परे थे। इस कारण चीन की सरकार ने कहा कि इस घटना में चीनी जनता का कोई हाथ नहीं है। लेकिन, अँगरेज इसे मानने के लिए तैयार नहीं थे। वस्तुतः, ब्रिटिश दूत थामस वेड मार्गेरी-काण्ड को बहाना बनाकर चीन पर दबाव डालकर कुछ और सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता था। वेड ने तुरत ही माँगों की एक सूची चीनी अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत कर दी। चीनी अधिकारियों ने आपत्ति की, पर कोई सुनवाई नहीं हुई। सितम्बर, 1876 में वेड ने चीनी अधिकारी ली हुंग-चांग से भेंट की और चेफू नामक स्थान में उसे एक समझौते पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया। इसे 'चेफू-समझौता' कहते हैं।

चेफू-समझौते के अनुसार चीन को दो लाख तैल का हरजाना देना पड़ा। सीमावर्ती व्यापार के नियमन की व्यवस्था की गई और युन्नान में अँगरेजी फौज को पाँच वर्ष के लिए रहने का अधिकार मिला। साथ ही, इसमें क्षमा-प्रार्थना के लिए एक चीनी मण्डल लन्दन भेजने की भी व्यवस्था थी। समझौते के दूसरे भाग में सरकारी सम्पर्क की व्यवस्था थी। चीन को विदेशी राष्ट्रों को निमन्त्रित कर आचार संहिता एवं सरकारी शिष्टाचार आदि के सम्बन्ध में नियम बनाने की वार्ता करने को कहा गया था। तीसरे भाग में, जो व्यापार के सम्बन्ध में था, और बन्दरगाह (इचांग, वूहू, बेनचो और पारवोई) खोलने, चुंगकिंग में एक वाणिज्य दूत रखने और यांगत्सी नदी के किनारे जहाजों के रुकने के लिए अनेक बन्दरगाह खोलने की भी व्यवस्था थी।

चेफू-समझौते के बारे में कहा जाता है कि यह 1842, 1858 और 1860 ई० की ब्रिटिश सन्धियों का महत्त्वपूर्ण पूरक था। इसके द्वारा वे सारी सुविधाएँ मिलीं, जिनके लिए ब्रिटिश दूत पिछले दो वर्षों से माँग कर रहे थे। फिर भी, ब्रिटिश व्यापारी इससे सन्तुष्ट नहीं थे। उनका कहना था कि नई सुविधाओं की बजाय चीन से 1858 ई० की सन्धि का ही पूरी तरह पालन करवाना उचित होगा। इस कारण, चेफू समझौते का ब्रिटिश सरकार द्वारा तत्काल अनुमोदन नहीं हो सका। 1885 ई० में सन्धि का अनुमोदन हुआ।

रूस की घुसपैठ—उत्तर की ओर से चीन पर रूस का दबाव बहुत पहले शुरू हो चुका था। 1858 ई० में वह चीन पर एगून की सन्धि लादकर चीन के भू-भागों पर आधिपत्य जमा चुका था। 1860 ई० में पिकिंग की सन्धि द्वारा रूस और चीन ने अपनी सीमा निर्धारित करने का काम शुरू किया तथा काशगर के दक्षिण में एक व्यापारिक मण्डी कायम करने का निश्चय किया।

1871 ई० में चीन में रूस को अपना प्रसार करने का दूसरा मौका मिला। सिक्यांग में याकूब नामक एक व्यक्ति ने बेग उपाधि धारण कर अपने स्वतंत्र राज्य की घोषणा कर दी। इस मौके पर रूस ने इली घाटी के चीनी इलाके पर कब्जा कर लिया। चीन की सरकार ने याकूब के विद्रोह को दबाने का निश्चय किया और 1877 ई० में चीनी सेनाओं ने उरुमची पर कब्जा कर लिया। उसी वर्ष याकूब की मृत्यु हो गई। उसका पुत्र चीनियों का प्रतिरोध नहीं कर सका और रूस भाग गया। सिक्यांग पर चीन का पूरा अधिकार कायम हो गया। वह चीनी साम्राज्य का प्रान्त बना लिया गया और उसकी सारी स्वायत्तता समाप्त कर दी गई। इसके उपरान्त चीनी सरकार ने इली के इलाके को रूस से वापस लेने के लिए अपने एक दूत छुंग हू को सेंट पिटर्सबर्ग भेजा। छुंग हू ने एक सन्धि भी कर ली; लेकिन पिकिंग को यह अपमानजनक सन्धि मान्य नहीं हुई। सरकार ने इसे केवल ठुकरा ही नहीं दिया, वरन् छुंग हू को प्राणदण्ड भी दे दिया, क्योंकि उसने उक्त सन्धि को स्वीकार कर अपने अधिकारों की सीमा का उल्लंघन किया था। रूस ने छुंग हू के प्रति किए गए व्यवहार को अपने प्रति असम्मान माना तथा इली घाटी में एक फौज और चीनी तट पर एक जहाजी बेड़ा भेज दिया। अन्त में, 1881 ई० में दोनों देशों के बीच सेंट पिटर्सबर्ग की सन्धि हो गई। रूस ने चीन से नब्बे लाख रूबल का हरजाना लेकर इली घाटी के कुछ हिस्सों पर से अपना अधिकार हटा लिया। लेकिन, बिना चुंगी दिए व्यापार करने का अधिकार रूस ने प्राप्त कर लिया।

चीन पर जापान की जबरदस्ती—चीन को केवल पश्चिमी देशों की जोर-जबरदस्ती का सामना ही नहीं करना पड़ा, वरन् उसका पड़ोसी राज्य जापान भी लूट में शामिल हो गया। 1867 ई० में मेईजी पुनरुत्थान

के उपरान्त जापान में जो शक्ति पैदा हुई वह सैनिक विस्तार और साम्राज्य के प्रसार के रूप में प्रकट हुई और इसका मुख्य क्षेत्र चीन ही रहा। चीन के विरुद्ध जापानी साम्राज्यवाद का विस्फोट 1894 ई० में कोरिया में हुआ। कोरिया चीन का एक आश्रित राज्य था और जापान इस देश को अपने साम्राज्य में मिला लेना चाहता था। अतः, कई बहाने बनाकर उसने कोरिया को लेकर चीन को युद्ध के लिए मजबूर किया तथा उसे हराकर कोरिया पर अपना अधिकार कायम कर लिया। 1894-95 के चीन-जापान युद्ध का वर्णन हम आगे के अध्याय में करेंगे।

पश्चिमी देशों द्वारा चीन की बन्दर-बाँट

पूर्वी एशिया के आधुनिक इतिहास में चीन-जापान युद्ध एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई। इसके बाद ही पश्चिमी देशों द्वारा चीन की बन्दर-बाँट शुरू हुई। जापान द्वारा पराजित होने के बाद यूरोपीय शक्तियों को पता लग गया कि चीन एक अत्यन्त दुर्बल देश है। वह इस बार एक शक्तिशाली पश्चिमी देश से नहीं, वरन् एशिया की ही एक उस बौनी जाति से पराजित हुआ था जिसे शताब्दियों से चीन घृणा की दृष्टि से देखता चला आ रहा था। इस घटना से यूरोपीय लुटेरों का हौसला बहुत बढ़ गया। उन्होंने सोचा कि गिरते हुए चीन का जितना हिस्सा भी दबाया जा सके, उतना ही थोड़ा है। इसी धारणा के आधार पर पश्चिम के सभी राष्ट्र चीन के प्रति नीति-निर्धारण और बेशर्म आचरण करने लगे।

चीन का विभाजन या 'चीनी तरबूज' का बँटवारा—1895 ई० तक चीन में पश्चिमी राष्ट्रों की मुख्य दिलचस्पी वाणिज्य के लिए ही थी। व्यापारी चीन का रेशम और चाय खरीदते थे और बदले में चीन को चाँदी, अफीम, चन्दन, फर तथा अनेक प्रकार की निर्मित वस्तुएँ बेचते थे। लेकिन, 1895 ई० में यह स्थिति एकाएक बदल गई। चीन अब 'एशिया का मरीज' (Sickman of Asia) के रूप में प्रकट हुआ और पश्चिमी राज्यों के मुँह में उसके बँटवारे के लिए पानी भर आया। अब तक चीन का विभाजन नहीं हो सका था। इसका मुख्य कारण था पाश्चात्य देशों के बीच आपसी प्रतिस्पर्धा। लेकिन, जापान की सफलता ने उन्हें नई नीति का अवलम्बन करने की प्रेरणा दी। फलतः, यूरोपीय देश अब चीन के विभिन्न क्षेत्रों पर अपना-अपना दावा पेश करने लगे और चीन को विविध प्रभावक्षेत्रों (spheres of influence) में बाँटने लगे। इस तरह 'चीनी तरबूज' को काटने (cutting of the Chinese melon) की प्रक्रिया का आरम्भ हुआ। कई कारणों से अब चीन पर पाश्चात्य देशों का शिकंजा कसता गया और वे सब नई-नई सुविधाओं की माँग करने लगे। इसे लेकर उनके बीच आपसी होड़ आरम्भ हो गई जिसे 'सुविधाओं का युद्ध' (battle of concessions) कहते हैं। इसका प्रभाव चीन की प्रादेशिक एकता पर बड़ा घातक सिद्ध हुआ। चीन के भूभाग धीरे-धीरे केन्द्रीय सरकार के अधिकार से निकलने लगे और उनपर विदेशियों का आधिपत्य कायम होता गया। चीन की लूट-खसोट की असली प्रक्रिया अब शुरू हुई।

कोरिया को लेकर जो चीन-जापान युद्ध हुआ था उसका अन्त शिमोनोसेकी की सन्धि से हुआ था। इस सन्धि के कारण चीन को अत्यधिक नुकसान पहुँच रहा था। पश्चिमी राज्यों की आकांक्षा भी सीमित हो रही थी। अतएव फ्रांस, जर्मनी और रूस ने हस्तक्षेप कर शिमोनोसेकी सन्धि में संशोधन कराया जिससे लियाओतुंग प्रायद्वीप चीन के हाथ से निकलने से बच गया। इसके अतिरिक्त, जापान को क्षतिपूर्ति भी देनी थी। इसके लिए चीन को इन्हीं तीनों देशों ने कर्ज दिया। इस प्रकार चीन इन तीनों देशों के प्रति कृतज्ञ हो गया। किन्तु, इसका मूल्य भी उसे शीघ्र ही चुकाना पड़ा। तीनों शक्तियों ने चीन को जो लाभ पहुँचाया था उसके एवज में वे चीन से रियायतें और सुविधाएँ माँगने लगे।

फ्रांस का हिस्सा—चीन को जापान को जो युद्ध का हरजाना देना था उसके लिए जुलाई, 1895 में फ्रांस ने एक ऋण जारी किया जिसकी गारण्टी रूस ने ली। कर्ज देने के रूप में धन के पहले फ्रांस ने चीन से यह वादा करा लिया कि वह हैनान का द्वीप किसी अन्य राज्य को नहीं देगा। कुछ ही दिनों के अन्दर फ्रांस को चीन में अग्रलिखित सुविधाएँ प्राप्त हो गईं। युन्नान, क्वांगसी और क्वांगतुंग की खानों को खोदने का एकाधिकार और दक्षिणी चीन में अनाम रेलवे के विस्तार का अधिकार उसे मिला। दक्षिणी चीन में फ्रांसीसी माल पर चुंगी भी घटा दी गई। इस प्रकार, फ्रांस ने चीन-जापान युद्ध की समाप्ति के तुरत बाद ही चीन में 'सुविधाओं के युद्ध' का आरम्भ कर दिया। 1897-98 में फ्रांस ने और भी नए अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त कीं। क्वांगचाउ खाड़ी तथा उसके निकटस्थ प्रदेश फ्रांस को 99 साल के लिए पट्टे पर मिले और युन्नान में रेलवे लाइन बिछाने का अधिकार मिला। चीन ने यह भी मान लिया कि फ्रांस के

परमर्श के बिना टौंगकिंग के निकटवर्ती प्रान्तों को वह किसी भी देश को हस्तान्तरित नहीं करेगा। इस प्रकार, फ्रांस ने दक्षिणी चीन के इलाकों को अपने प्रभावक्षेत्र में लाने का यत्न किया तथा इसके पट्टे, रेलवे-निर्माण एवं भू-भाग के अहस्तान्तरण के सिद्धान्त का सहारा लिया।

रूस का हिस्सा—चीन के बँटवारे में रूस ने फ्रांस का साथ दिया। चीन को कर्ज दिलाने में रूस ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। अतएव, रूस को भी इसके लिए इनाम मिलना ही था। दिसम्बर, 1895 में रूस के वित्तमंत्री काउण्ट विटे ने रूसी-चीनी बैंक की शुरुआत की, जिसका क्षेत्र उत्तर-पूर्वी चीन था। इस बैंक को अनेक विस्तृत अधिकार मिले। रेलवे-निर्माण के सम्बद्ध कार्य के अतिरिक्त इसे तार बिछाने, सिक्का ढालने, कर वसूलने और चीन के वैदेशिक कर्जों के सूद-भुगतान के कार्य मिले। इस प्रकार, यह बैंक चीन के आर्थिक जीवन पर हावी हो गया। रूस मंचूरिया होकर ट्रांस-साइबेरियन रेलमार्ग की एक लाइन बिछाना चाहता था, क्योंकि इससे साढ़े तीन सौ मील की दूरी बचती थी। इस विषय में जून, 1896 में जार निकोलस के राज्याभिषेक के अवसर पर ली हुंग-चांग, विटे और रूसी विदेशमंत्री लोबानोफ ने बातचीत शुरू की। ली हुंग-चांग जापान से बचने के लिए पश्चिमी देशों से अच्छे सम्बन्ध बनाए रखना चाहता था। इसलिए उसने रूस के साथ इस बारे में समझौता कर लिया। इसे ली-लोबानोफ समझौता कहते हैं। इसमें तय हुआ कि यदि जापान हमला करे तो रूस और चीन एक-दूसरे की मदद करेंगे और रूस चीन के बन्दरगाहों का प्रयोग कर सकेगा। साथ ही, यह भी मान लिया गया कि रूस मंचूरिया होकर रेलवे लाइन बिछा सकेगा।

8 सितम्बर, 1896 को रूसी-चीनी बैंक और चीनी सरकार में एक और समझौता हुआ जिसके अनुसार एक रूसी प्रबन्धक के अधीन चीनी पूर्वी रेलवे कम्पनी कायम की गई और इसे मंचूरिया की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित मनचूली से ब्लाडीवोस्टक के निकट सुइफेनहो तक लगभग एक हजार मील लम्बी रेलवे लाइन बिछाने का काम सौंपा गया। यह लाइन 1904 ई० में बनकर तैयार हुई। चीन ने मंचूरिया आने-जानेवाले रूसी माल पर चुंगी की दरें कम कर दीं और उस इलाके में फौजों की गतिविधि की इजाजत दे दी। मार्च, 1898 में, जब जर्मनी ने शान्तुंग में अपना क्षेत्र बना लिया तो, रूस ने चीन पर जोर दिया कि वह उसे पच्चीस वर्ष के लिए लिआओतुंग प्रायद्वीप का दक्षिणी छोर पट्टे पर दे दे, जिसमें पोर्ट आर्थर और दायरन के बन्दरगाह स्थित थे और वहाँ तक रेलवे लाइन बिछाने की इजाजत भी दे दे। रूसी तत्त्वाधान में चीनी पूर्वी रेलवे कम्पनी ने 1900 ई० में इस लाइन को पूरा किया। इसे दक्षिणी मंचूरियाई रेलवे कहते थे।

1898 ई० में रूस ने अपने पैर और भी पसारे। उसने पोर्ट आर्थर नामक बन्दरगाह पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार, रूस ने मंचूरिया पर अपना पूरा प्रभाव कायम करने का यत्न किया और इसमें उसे बड़ी सफलता मिली।

जर्मनी का हिस्सा—अब रूस की तरह जर्मनी ने भी चीन में अपना प्रभाव कायम करने का प्रयास किया। लिआओतुंग पर से जापानी प्रभाव समाप्त करने में जर्मनी ने भी रूस को मदद देकर चीन की सहानुभूति अर्जित की थी। अतः, 'चीनी तरबूज' का एक टुकड़ा प्राप्त करने के लिए वह भी लालायित हो गया। उसने चीन के एक ऐसे प्रदेश पर अपना प्रभाव कायम करने का प्रयास किया जहाँ उसके जहाज आसानी से आ-जा सकें और जहाँ से वह चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध चला सके। इसी समय चीन में जर्मन चर्च के दो पादरियों की हत्या कर दी गई। चीन पर दबाव डालने का जर्मनी को एक अच्छा अवसर मिल गया। जर्मनी की सरकार ने माँगों की एक सूची तैयार की और उसे चीन की सरकार के सम्मुख रखा। ये माँग अग्रलिखित थीं—

(क) त्सिंगताओ नामक बन्दरगाह को, जो उत्तरी चीन में स्थित था, चीन 99 साल के लिए पट्टे पर जर्मनी को दे दे,

(ख) शान्तुंग में रेलवे लाइन का निर्माण करने के लिए जर्मनी को अधिकार मिले,

(ग) शान्तुंग में जितनी भी खानें हैं उनकी खुदाई, तथा विकास करने का अधिकार केवल जर्मनी की सरकार को हो, और

(घ) चीन (शान्तुंग) में जिन दो जर्मन पादरियों की हत्या कर दी गई है उस हत्या का हरजाना चीन की सरकार जर्मनी को प्रदान करे। इसी हरजाने में जर्मनी की सरकार ने उस आक्रमण से हुई क्षति की पूर्ति के लिए कहा जिसे उसने त्सिंगताओ पर किया था।

चीन की सरकार निर्बल थी, अतः उसे जर्मनी की इन समस्त माँगों को स्वीकार कर लेना पड़ा। चीन ने जर्मनी के साथ 6 मार्च, 1898 में एक राजनीतिक सन्धि की जिसके अनुसार 99 वर्ष के लिए त्सिंगताओ,

कियाओचाओ के खाड़ी और त्सिंगताओ के निकट प्रदेश जर्मनी को दे दिए गए। इसी प्रकार शान्तुंग के रेलमार्ग तथा खान-खुदाई सम्बन्धी कार्य का अधिकार भी जर्मनी को मिला। फलतः, रूस की तरह चीन पर जर्मनी का भी प्रभाव कायम हुआ।

ब्रिटेन का हिस्सा—जब चीन में इस प्रकार की लूट-खसोट मची हुई थी तो ब्रिटेन कैसे चुप बैठ सकता था? चीन का द्वार खोलने का श्रेय उसी को था और 1895 ई० तक चीन में उसी का प्रभाव सर्वोपरि था। लेकिन, अब चीन में सभी यूरोपीय देशों की रुचि बढ़ गई थी और सबका प्रभावक्षेत्र कायम हो रहा था। ऐसी दशा में इंगलैण्ड ने भी अपना दावा पेश किया।

जब उत्तर में रूस और जर्मनी ने अपने पैर जमाए और दक्षिण में फ्रांस ने अपना अधिकार कायम किया तो ब्रिटेन के लिए मध्य चीन में यांगत्सी की घाटी के अलावा और कुछ भी न बचा। फरवरी, 1898 में ब्रिटेन ने चीन से यह वचन लिया कि वह इस इलाके में अपने अलावा किसी अन्य देश का अधिकार नहीं होने देगा। उसने कोलून से लगे प्रायद्वीप का 99 साल का पट्टा ले लिया और हांगकांग के सामने के कुछ इलाकों पर भी दावा किया।

चीन के विदेशी व्यापार का दो-तिहाई भाग अँगरेजों के हाथ था। इसलिए उन्होंने यह माँग की कि चीन में जहाजी चुंगी का प्रधान निरीक्षक हमेशा कोई अँगरेज नागरिक ही हो। चीन ने ब्रिटेन की इन सभी माँगों को स्वीकार कर लिया और इस तरह उसका प्रभावक्षेत्र भी कायम हो गया।

जापान का हिस्सा—पश्चिमी देशों की इस बन्दर-बाँट ने जापान को भी प्रोत्साहित किया और वह भी अपने लिए स्थान सुरक्षित कराने के प्रयास में आगे बढ़ा। चीन की सरकार से उसने यह वादा कराया कि वह फुकिएन प्रदेश को, जो फारमोसा के निकट था, किसी अन्य राज्य के प्रभाव में नहीं जाने देगा और इस प्रदेश के आर्थिक विकास का अधिकार केवल जापान को रहेगा।

इटली की माँग—चीन की लूट का यहीं अन्त नहीं हुआ। इटली तक ने चीन से समुद्री अड्डा माँगा जबकि उसका कोई धर्मप्रचारक चीन में नहीं मारा गया था। लेकिन, इटली देर कर चुका था। इसी समय चीनी राजदरबार में विद्रोह हो गया जिसके फलस्वरूप चीनी शासन की बागडोर वृद्धा राजमाता त्जे शी (Tse Hsi) के हाथ आ गई। वह बहुत ही योग्य शासिका थी। साम्राज्ञी ने खुशामद करना और गिड़गिड़ाना त्यागकर साहस से काम लिया। उसने यांगत्सी के गवर्नरों को आदेश दिया कि वे इटली की माँगों का विरोध करें। इस पर इटली ने अपनी माँगें वापस ले लीं।

विदेशियों का आपसी सहयोग—चीन की बन्दर-बाँट के लिए पश्चिमी राज्यों में भयंकर प्रतिस्पर्धा की शुरुआत हुई। यूरोप की शक्तियों ने चीन से मनवा लिया कि कुछ यूरोपीय शक्तियों के अधिकार में जो कतिपय जिले हैं वे किसी हालत में उनसे रिक्त नहीं कराए जाएँगे। दूसरे शब्दों में, चीन की सरकार ने मान लिया कि चीनी साम्राज्य में कतिपय अन्य शक्तियों का भी प्रभुत्व है और उस क्षेत्र में उसी विदेशी शक्ति को विशेषाधिकार दिए जाएँगे। इस प्रकार, फ्रांस के अधिकार में हैनान और टोन्किन की सीमा का प्रदेश आ गया, यांगत्सी की घाटी ब्रिटेन के हाथ रही, जापान का अधिकार फुकिएन पर हो गया तथा जर्मनी को शान्तुंग में विशेषाधिकार प्राप्त हुआ। रूस ने मंचूरिया, मंगोलिया और चीनी तुर्किस्तान पर अपना प्रभाव फैलाया। इस प्रकार, एक के बाद एक पश्चिमी शक्ति चीन में अधिकाधिक घुसपैठ करती गई। धीरे-धीरे यूरोपीय शक्तियाँ चीन का लहू जोंकों की तरह चूसने लगी थीं।

इसी तरह, रेल बनाने के ठेके लेने में भी पश्चिमी देशों में होड़ लग गई। नवम्बर, 1898 में अँगरेजों ने अट्ठाइस सौ मील लम्बी लाइन बिछाने के नौ ठेके लिए, रूसियों ने पंद्रह सौ मील के तीन ठेके, बेल्जियम के लोगों ने साढ़े छह सौ मील का एक ठेका और फ्रांसीसियों ने तीन सौ मील के तीन ठेके। इस लूट-खसोट में अँगरेजों और रूसियों में कड़ा मुकाबला रहा और उनके सम्बन्ध भी बिगड़ने लगे। लेकिन, अप्रैल, 1899 में उनमें एक समझौता हो गया कि बड़ी दीवार के उत्तर में ब्रिटेन कोई रेल का ठेका नहीं लेगा और यांगत्सी घाटी में रूस किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करेगा। इस तरह का समझौता अन्य लुटेरों में भी हो चुका था। 1896 ई० में सिआना-समझौता करके फ्रांस और ब्रिटेन ने एक-दूसरे के विशेषाधिकारों को मान्यता दी। 1898 ई० में एक समझौते द्वारा जर्मनी तथा अँगरेज पूँजीपतियों ने रेलवे निर्माण में सहयोग करने का निश्चय किया और दोनों ने एक-दूसरे के क्षेत्र में दखल न देने का वादा किया। इस प्रकार, चीन की लूट के प्रश्न पर विदेशी शक्तियों ने आपसी समझौता कर लिया। यह बिलकुल ही नए ढंग का उपनिवेशवाद था। चीन के भूभागों पर विदेशियों का पूरा अधिकार कायम हो गया, लेकिन वे नाम के लिए चीनी सरकार के

आधिपत्य में ही रहे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्ष में यह प्रतीत होने लगा कि 'एशिया का मरीज' अब कुछ ही दिनों का मेहमान है। चीन की मजबूत रक्षा-चौकियाँ विदेशियों के अधिकार में आ गई थीं; उसका विदेशी व्यापार और चुंगी विदेशियों के नियंत्रण में थी; उसके वित्तीय शासन और आन्तरिक प्रबन्ध पर भी विदेशी लोग ही छाए हुए थे। यही नहीं, चीनी मुख्य भूमि पर चलनेवाली रेलों पर भी विदेशी शक्तियों का पूर्ण नियंत्रण था। चीनी प्रभुसत्ता नाममात्र की रह गई थी।

इन सब बातों से यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा था कि चीन की प्रादेशिक अखण्डता का कोई मूल्य नहीं है। जर्मनी, रूस, फ्रांस, ब्रिटेन सब-के-सब इस प्रादेशिक अखण्डता के सिद्धान्त के प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करते थे, लेकिन उनकी पट्टेदारी, रेलमार्ग की सुविधाएँ तथा अपस में संघर्ष न करने के समझौते से स्पष्ट था कि पश्चिमी देश कहते कुछ और करते कुछ और हैं। चीन में विशेषाधिकारों का युग आरम्भ हो गया था। यूरोप की महान शक्तियाँ चीन की प्रादेशिक अखण्डता के साथ खिलवाड़ करने के कार्य में जुट गई थीं। यों तो हर पट्टेदारी के समझौते में उस भूमि पर चीन की प्रभुसत्ता और पूर्ण नियंत्रण की व्यवस्था अनिवार्य रूप से रहती थी, लेकिन यह केवल धोखा था और सब इसे ऐसा ही समझते थे। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात तो यह थी कि 1898-99 में चीन के अन्दर न तो कोई नेता था, न उसका कोई लक्ष्य था और न शोषण का विरोध करने की कोई प्रबल इच्छाशक्ति ही थी।

उन्मुक्त द्वार की नीति
(OPEN DOOR POLICY)

चीन और अमेरिका—चीन में यूरोपीय राज्यों की छीना-झपटी देखकर संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए चिन्तित होना बिलकुल स्वाभाविक था। पश्चिमी देशों में यदि चीन का किसी राज्य से थोड़ा-बहुत अच्छा सम्बन्ध था तो वह अमेरिका ही था। 1884 ई० निरन्तर उसने चीन के व्यापार के विकास में सहायता की थी। अमेरिका ने चीन के साथ युद्ध नहीं किया था। 1858 ई० में उसके युद्धपोत ताकू तक अवश्य आ गए थे, परन्तु उन्होंने किसी प्रकार की आक्रामक कार्यवाही नहीं की थी। फिर भी, 1858 ई० और 1860 ई० के मध्य हुए संघर्षों के फलस्वरूप विदेशियों को जो लाभ हुए थे उनमें अमेरिका ने भी हिस्सा बँटाया था। उसे चीन में वे सारी कूटनीतिक और व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हुईं जो अन्य राज्यों को मिली थीं। राज्य क्षेत्रातीत अधिकार उसे भी प्राप्त था। किन्तु, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चीन के प्रति अमेरिका ने शुरू में अत्यंत संयम से काम लिया और चीन के ऊपर उसने उन व्यापारिक और न्यायिक विशेषाधिकारों के अलावा अन्य किसी प्रकार का दबाव न डाला। उसने न तो चीन में अपने प्रभावक्षेत्र की स्थापना का यत्न किया और न उससे कभी कठिन रियायतों की ही माँग की। उसने चीन के किसी प्रदेश पर अधिकार भी नहीं कायम किया।

लेकिन, अमेरिका अधिक दिनों तक इस संयम की नीति से काम नहीं चला सका। 1898 ई० में उसने स्पेन को हराकर फिलिपाइन्स पर अधिकार कर लिया था। इस हालत में पूर्वी एशिया की राजनीतिक गतिविधि में उसकी रुचि का बढ़ना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त, अमेरिका एक महान औद्योगिक देश बन गया था और उसे भी बाहर बाजारों की आवश्यकता थी । ऐसी स्थिति में वह चीन की लूट-खसोट को चुपचाप नहीं देख सकता था। जब फ्रांस ने क्वांगसी पर, जापान ने फुकिएन पर, ब्रिटेन ने यांगत्सी-घाटी पर और रूस ने मंचूरिया पर अधिकार जमा रखा था तो इस बात की सम्भावना बढ़ गई थी कि उपर्युक्त लुटेरे देश अपने-अपने अधिकृत प्रदेश में ऐसी शत्रुतापूर्ण चुंगी व्यवस्था रखते जिससे अमेरिका के लिए चीन में व्यापार करना कठिन हो जाता। उधर अमेरिका चीन में अपना प्रभावक्षेत्र भी नहीं कायम कर सकता था । फिलिपाइन्स द्वीप समूह पर जब अमेरिका ने अधिकार किया तो उसके कुछ हलकों में इसका तीव्र विरोध हुआ था। कुछ अमेरिकियों ने इसे गणराज्य की मौलिक नीति के विरुद्ध बताया। अतः, स्पष्ट था कि यदि अमेरिका चीन में अपना उपनिवेश कायम करने का प्रयास करता तो अमेरिका में पुनः इसका विरोध होता।

जॉन हे द्वारा उन्मुक्त द्वार नीति का प्रतिपादन—1898 ई० में जॉन हे संयुक्त राज्य अमेरिका का विदेश सचिव नियुक्त हुआ। चीन में अमेरिकी हितों की रक्षा के लिए उसने एक नई नीति का प्रतिपादन किया जिसे 'उन्मुक्त द्वार की नीति' कहते हैं। 6 सितम्बर, 1899 को उसने ब्रिटेन, जर्मनी और रूस की सरकारों को एक गश्ती पत्र भेजा और नवम्बर में जापान, इटली तथा फ्रांस की सरकारों को लिखा और

उनसे यह घोषणा करने की माँग की कि चीन में सभी देशों को व्यापार करने की समान सुविधाएँ दी जाएँ, सभी से समान सीमा शुल्क और बन्दरगाह का किराया लिया जाए और इस सम्बन्ध में किसी एक देश के साथ दूसरे की अपेक्षा रियायत नहीं की जाए। जॉन हे ने अपने गश्ती पत्र में यह भी माँग की कि सन्धि की शर्तों के अनुसार चीन के सीमा शुल्कों में चीन को हिस्सा दिया जाए और चीनी सरकार का चुंगी वसूल करने का अधिकार अक्षुण्ण रहे। दूसरे शब्दों में, सचिव हे ने उन देशों से, जो चीन की छाती पर चढ़ बैठे थे, यह घोषणा करने को कहा कि चीन के साथ मुक्त व्यापार की नीति बरती जाए। उसने यह भी माँग की कि जिन शक्तियों ने चीन में अपने जो प्रभावक्षेत्र कायम कर लिए हैं उनमें वे उन्मुक्त द्वार की नीति बरतें और सभी देशों से समान रूप से सीमा शुल्क और चुंगी वसूल की जाए। इस गश्ती पत्र में कहा गया था कि "हमारी सरकार हृदय से यह चाहती है कि अमेरिका के नागरिकों के साथ चीन में उन देशों के द्वारा जिन्होंने अपने प्रभावक्षेत्र कायम कर लिए हैं और जिनका चीन के कुछ भागों पर अधिकार हो गया है, ऐसा अन्यायपूर्ण व्यवहार न हो जिससे हमारे नागरिकों को शिकायत का मौका मिले। हमारी सरकार यह भी चाहती है कि चीन में संसार के प्रत्येक देश को व्यापार करने की समान सुविधाएँ हों। हम यह भी चाहते हैं कि ऐसे सभी अवसरों को तुरत हटा दिया जाए जिनसे अंतरराष्ट्रीय कटुता उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार, हम चाहेंगे कि सभी देश मिल-जुलकर चीन में ऐसी व्यवस्था कायम करें कि पिकिंग सरकार में आवश्यक सुधार हो जाए। इस प्रकार, चीन की सरकार सुदृढ़ होगी और चीनी साम्राज्य की अखण्डता बनी रहेगी। हम सभी पश्चिमी राष्ट्र चीन को समृद्ध और उन्नतिशील देखना चाहते हैं।"

यह एक गलत धारणा है कि जॉन हे के विचारों को सभी सम्बद्ध राज्यों ने मान लिया या उन्मुक्त द्वार के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। सच तो यह है कि गश्ती पत्र को प्राप्त करनेवाले किसी देश ने इसका स्वागत नहीं किया। उनके उत्तर टालमटोल करनेवाले ही थे। ब्रिटेन का उत्तर उत्साहवर्द्धक अवश्य था; लेकिन उसके साथ यह शर्त जुड़ी हुई थी कि यदि अन्य देश इसे मानें, उसी हालत में यह ब्रिटेन को भी मान्य होगा। रूस ने तो उत्तर भेजने में ही आनाकानी की और जब उसने उत्तर भेजा तो वह गोल-मटोल था। वस्तुतः सभी उत्तर व्यर्थ और निस्सार थे। फिर भी, 20 मार्च, 1900 को जॉन हे ने यह घोषणा की कि उसे "सभी देशों से सन्तोषजनक आश्वासन मिले हैं।" इस राजनयिक झाँसे में और कोई विदेशी राष्ट्र तो नहीं आया, लेकिन स्वतंत्रताप्रेमी और मुक्ति-आन्दोलन के समर्थक लोग अवश्य धोखे में आ गए। यह धारणा बन गई कि अमेरिका एक उपनिवेशवाद-विरोधी देश है तथा उसने अपनी राजनयिक प्रतिभा से चीन को लुटेरे देशों के कुत्सित उद्देश्यों से बचा लिया है। कुछ लोग इस भुलावे में अवश्य आ गए कि अमेरिका का उद्देश्य चीनी साम्राज्य को टुकड़े-टुकड़े होने से बचाना था। तथ्य तो यह है कि इसमें कोई ऐसी बात नहीं थी। इसमें हमें तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए कि मूल रूप से एक साम्राज्यवादी देश होने के नाते अमेरिका द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने लाभ को दृष्टि में रखकर किया गया था और इस माँग के पीछे चीन में अमेरिका का प्रभावक्षेत्र बनाने की इच्छा थी। चीन का विघटन नहीं हुआ या उन दिनों चीन की कुछ रक्षा हो सकी तो वह अमेरिका की कृपा से नहीं, बल्कि यूरोपीय देशों की अपनी खींचातानी के कारण।

सुधारों के सौ दिन

सुधारों का पृष्ठाधार—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में चीन महान कन्फ्यूशियसवादी सभ्यता की दयनीय छाया मात्र रह गया था। किसी समय चीन वालों की अपने देश के संबंध में यह धारणा थी कि उनका देश विश्व व्यवस्था का केन्द्र है और उसके चारों और दुर्बल आश्रित देश हैं जो शक्ति, सम्पत्ति और संस्कृति में उसकी तुलना में नगण्य और उपेक्षणीय हैं। परन्तु, अब यह दावा खोखला साबित हो चुका था। यूरोपीय राज्य उसके राजनीतिक और आर्थिक जीवन पर जबरदस्ती हावी हो गए थे। उसकी काल्पनिक सर्वोच्चता और स्वर्गिक साम्राज्य की गरिमा टूटकर बिखर गई थी। वह असहाय हो गया था और उसकी सारी शान तथा गौरव धूल में मिल चुके थे। वह सच्चे अर्थों में 'एशिया का मरीज' बन गया था। देश की गिरी हुई इस दशा के प्रति प्रबुद्ध चीनी नागरिकों में कुछ प्रतिक्रिया का होना बिलकुल स्वाभाविक था।

बेशर्मी से चीन को बाँट खाने के पश्चिमी देशों के प्रयासों की वहाँ जो प्रतिक्रियाएँ हुईं उन्हें हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। कुछ लोग तो रूढ़िवादी और पुरातनपंथी ही बने रहे और उन्होंने कभी इस बात की आवश्यकता महसूस नहीं की कि चीन का उद्धार चीनी समाज में आमूल परिवर्तन करके ही किया

जा सकता है। वे लकीर के फकीर बने रहे। एक दूसरा वर्ग था जिसके नेता डॉ० सनयात सेन जैसे लोग थे। वे क्रान्तिकारी विचारों के समर्थक थे और चीन में नवजागरण लाकर गणराज्य की स्थापना कर देश को मुक्त करने में विश्वास करते थे। 1895 ई० में डॉ० सेन और उनके कुछ सहयोगियों ने एक क्रान्ति का प्रयत्न किया, लेकिन इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। डॉ० सेन को अपने सहयोगियों के साथ देश छोड़कर भाग जाना पड़ा। वे जापान चले गए और वहीं से वे एक दूसरी क्रान्ति का संगठन करते रहे।

चीन में एक तीसरा वर्ग था जिसका नेता कांग-यू-वेई था। कांग-यू-वेई और उसके साथियों ने सुधारवाद का नारा उठाया। वेई ने चीन में कई तरह की संस्थाओं की स्थापना की जिनका उद्देश्य चीन में सुधारों के पक्ष में लोकमत तैयार करना था। इन संस्थाओं में 'लर्न टु बी स्ट्रांग सोसाइटी' (Learn to be Strong Society) तथा 'सोसाइटी फॉर दी सालवेशन ऑफ दी कंट्री' (Society for the Salvation of the Country) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन संस्थाओं के अतिरिक्त उसने कई तरह की पत्र-पत्रिकाएँ भी निकालनी शुरू की। 'करेण्ट इवेंट्स', 'वर्ल्ड बुलेटिन', 'ह्यू मेन न्यूज' के द्वारा उसने चीनी जनता में राष्ट्रीयता का भाव जगाने का यत्न किया। वह गोष्ठियों का संगठन करने लगा और प्रबुद्ध चीनियों को उनमें भाग लेने के लिए आमन्त्रित कर इस बात पर विचार करने लगा कि राष्ट्र की रक्षा के लिए क्या उपाय किए जाएँ।

कांग-यू-वेई एक उदारवादी विचार का व्यक्ति था। डॉ० सनयात सेन की तरह वह क्रान्ति का उपासक नहीं था। वह शान्तिपूर्ण ढंग से देश में सुधार लाना चाहता था। वह सांविधानिक राजतंत्र में विश्वास करता था। वह पुरातन शिक्षापद्धति का कट्टर विरोधी था। 1888 ई० में उसने एक ज्ञापनपत्र चीन के सम्राट् के पास भेजा और सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया। 1895 ई० में प्रान्तीय परीक्षाओं के उत्तीर्ण बारह सौ विद्यार्थियों के हस्ताक्षर से युक्त उसने एक दूसरा ज्ञापन सम्राट् की सेवा में भेजा। लेकिन, ये दोनों पत्र सम्राट् तक नहीं पहुँच सके। 1897 ई० में जब जर्मनी चीन से क्याऊचाऊ का पट्टा माँग रहा था तो उसने इसका बड़ा उग्र विरोध किया और स्वयं पिकिंग पहुँचा। इसी अवसर पर उसने अपना तीसरा ज्ञापनपत्र सम्राट् के समक्ष पेश किया। सम्राट् कुआंग शू उसके विचार और व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ।

स्वयं सम्राट् कुआंग शू एक प्रगतिशील विचार का व्यक्ति था। अपने शिक्षक वेंग-थुंग-हो से उसने पश्चिमी देशों और उनकी संस्कृति के विषय में काफी ज्ञान प्राप्त किया था और वह यह मानने लगा था कि चीन के उत्थान के लिए पश्चिमी शिक्षा और विज्ञान आवश्यक है। जापान से पराजित होने पर उसकी रुचि इस ओर और बढ़ गई थी।

दक्षिणी प्रदेशों और प्रान्तों के शासनाधिकारी भी सुधारों की आवश्यकताओं का अनुभव गहराई से करने लगे थे। हूनान प्रान्त के वायसराय चांग चेह तुंग और गवर्नर छेन पाओ चेन ने 1898 ई० में अनुसन्धान विभाग के निदेशक चिआंग पाओ के सहयोग से सामयिक मामलों के अध्ययन का एक संस्थान बनाया था। चांग चेह तुंग ने एक पुस्तक की रचना की थी जिसका नाम था 'सीखने का आह्वान'। चीन में इस पुस्तक की बड़ी धूम थी। इसमें उसने पश्चिमी जगत की शिक्षाप्रणाली की बड़ी प्रशंसा की थी और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करने के लिए चीनियों का आह्वान किया था।

राजदरबार में सुधारवादियों का नेता सम्राट् का शिक्षक वेंग-थुंग-हो था। कांग-चू-वेई और वेंग-थुंग-हो के विचारों से प्रभावित होकर सम्राट् ने सुधारों की एक योजना लागू की। यह योजना केवल सौ दिन तक चली। इसलिए चीन के इतिहास में इसे 'सौ दिनों का सुधार' कहते हैं।

सौ दिनों का सुधार—1898 ई० में सम्राट् कुआंग शू ने चालीस आदेश जारी किए। इनके द्वारा बहुत-से मुफ्त की तनख्वाह लेनेवाले कर्मचारियों को पदनिरस्त कर दिया गया और परीक्षा के यंत्र को आधुनिक रूप देने और उसमें सामयिक विषयों को शामिल करने की व्यवस्था की गई। पुरानी शिक्षा के स्थान पर 'व्यावहारिक' विषयों की शिक्षा का इन्तजाम किया गया। हर प्रान्त में आधुनिक स्कूल और कॉलेज खोलने की योजना बनाई गई। पिकिंग में एक 'परिवहन और खान मण्डल' स्थापित करने का आदेश जारी किया गया। राजनीति तथा विज्ञान से सम्बद्ध पश्चिमी पुस्तकों के अनुवाद की भी व्यवस्था की गई। कांग-चू-वेई का विचार था कि एक मंत्रिपरिषद कायम की जाए जिसमें कानून, राजस्व, शिक्षा, कृषि, व्यापार, रेलवे, निर्माणकार्य, डाक, खान, यात्रा, सेना और नौसेना के बारह विभाग हों और वह आधुनिक ढंग से इनका संचालन करे। वह स्थानीय स्तर पर लोकतन्त्रीय ढाँचे का समर्थक था। अगस्त, 1898 में उसने और अन्य सुधारकों ने सम्राट् को चांग रूई, लियु कुआंग ती, लिन शू और थान स्सु-थुंग को अपनी परिषद में

शामिल करने के लिए राजी कर लिया। इससे रूढ़िवादी बहुत नाराज हो गए। उन्होंने राजमाता त्जु शी, जो अभिभाविका साम्राज्ञी भी थी, का आश्रय लिया और सम्राट् को गद्दी से हटाने की योजना बनाई। उधर सुधारवादियों ने भी रूढ़िवादियों से भिड़ने की तैयारी की। उनका सहारा युआन शिह काई था जिसे पश्चिमी ढंग से सेना संगठित करने का काम सौंपा गया था। योजना यह बनी कि युआन शिह काई तीन्तसिन से नई सेना के साथ हजार आदमी लेकर ग्रीष्म-आवास पर चढ़ाई कर राजमाता तथा अन्य रूढ़िवादियों को गिरफ्तार कर लेगा। किन्तु, युआन ने धोखा दिया। वह साम्राज्ञी से मिल गया और उसकी आज्ञा से पिकिंग पर हमला कर सम्राट् को ही गिरफ्तार कर लिया। 21 सितम्बर को सम्राट् की बीमारी का बहाना कर त्जु शी ने स्वयं शासन सँभाल लिया और सारे सुधारों को रद्द कर दिया। अनेक सुधारवादी पकड़े और मार डाले गए। सम्राट् को जीवन के शेष दिन जेल में काटने पड़े। कांग-चू-वेई और लिआंग-छी-छीआओ ने जापान में शरण ली और वहीं से सुधारवादी आन्दोलन जारी रखा।

सौ दिवसीय सुधारों की असफलता इतिहास के तर्क में निहित थी। सुधारकों को कोई अनुभव नहीं था और सम्राट् कोई जादूगर नहीं था। इसमें सन्देह नहीं कि सम्राट् के विचार ऊँचे थे, परन्तु वह भावनात्मक दृष्टि से अस्थिर और बौद्धिक दृष्टि से खोखला था। रचनात्मक सुधारों के मार्ग की व्यावहारिक कठिनाइयों से वह पूर्णतः अनभिज्ञ था तथा अनुदार एवं रूढ़िवादी तत्त्वों के सम्बन्ध में भी उसका ज्ञान अपर्याप्त ही था। उसे इसका ज्ञान भी नहीं था कि राजमाता के नेतृत्व में ये अनुदार ताकतें उसका विरोध करेंगी।

इस प्रकार, चीन में सुधारवादियों का प्रथम प्रयास असफल रहा। अब प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के हाथ सत्ता आई और शीघ्र ही उन्होंने रूढ़िवाद को प्रश्रय देने के लिए कदम उठाए जिसके कारण चीन में एक भयंकर बॉक्सर-विद्रोह (Boxer Rebellion) शुरू हुआ।

बॉक्सर विद्रोह

चीन में लूट-खसोट की प्रतिक्रिया—बॉक्सर विद्रोह या मुक्केबाजों का आन्दोलन सुधारवादियों के कार्यक्रम की विफलता की प्रतिक्रिया थी। राजमाता त्जु शी के नेतृत्व में प्रतिक्रियावादियों ने चीन की सुधारवादी लहर को अवश्य दबा दिया, लेकिन वे लोग पाश्चात्य देशों की लूट-खसोट और हड़प-झड़प के कारण पैदा हुई घृणा के ज्वार को नहीं रोक सके। विदेशियों ने चीन को अपमान तथा अराजकता के सिवा कुछ नहीं दिया था। जब पाश्चात्य देशों ने चीन की बन्दर-बाँट के लिए छीना-झपटी शुरू की और उसे प्रभाव-क्षेत्रों में बाँटना शुरू किया तो चीनियों में भयानक विद्वेष फैला। रूढ़िवादी और पुराणपन्थी भी अपने आक्रोश को नहीं दबा सके। वे भी यूरोपीयों को घृणा की निगाह से देखने लगे और उनके साथ दिखाई गई नरमी के कारण मंचू-शासन को कोसने लगे। चीन के सभी तबके के लोग अपने देश की दुर्दशा के लिए मंचू शासन को दोषी ठहराने लगे। इस हालत में शासन को मजबूर होकर पश्चिमी देशों के विरुद्ध सख्त रवैया अपनाना पड़ा। नवम्बर, 1898 में उसने यह आदेश जारी किया कि रेलमार्ग बनाने के आज्ञापत्रों में खानों को खोदने और उनसे माल निकालने का अधिकार सम्मिलित नहीं है। अगले वर्ष उसने देश के सभी रेलमार्गों और सभी खानों पर राजकीय नियन्त्रण कायम करने के लिए एक केन्द्रीय कार्यालय खोला। साथ ही, यह घोषणा भी की गई कि जब तक पहले के ठेके खत्म नहीं हो जाते तब तक नए ठेके नहीं दिए जाएँगे। यदि कोई नया ठेका दिया भी जाएगा तो उसमें आधा धन चीनियों का लगेगा और उनका प्रबन्ध भी उन्हीं के हाथ रहेगा। चीन पश्चिमी देशों पर अब विश्वास या भरोसा नहीं कर सकता था। अतएव, अब वह जापान की ओर झुकने लगा और उसने एक नई सन्धि के लिए बातचीत भी शुरू की । जुलाई, 1898 में सन्धि की सम्भावना पर बातचीत करने के लिए दो चीनी आयुक्त जापान भेजे गए। लेकिन, कुछ ही दिनों में इसकी भनक रूस को मिल गई और उसके कान खड़े हो गए। उसने तुरत चीन को इस बात की चेतावनी दी कि यदि ऐसी कोई सन्धि की गई तो इसके भयंकर परिणाम होंगे। अतः, जापान के साथ सन्धि की बात बीच में ही खत्म हो गई।

यद्धपि चीनी शासन पश्चिम के विरुद्ध कड़ा रुख अपनाने का प्रयास कर रहा था, लेकिन उसके पास इसके लिए पर्याप्त ताकत न थी। इस प्रयासों से वह विदेशियों के प्रति चीनी जनता के धधकते हुए रोष को शान्त नहीं कर सका; उलटे इन कार्यवाहियों से पाश्चात्यविरोधी शक्तियों का साहस और भी बढ़ा और वे विदेशियों को निकाल-बाहर करने के लिए कटिबद्ध हो गए। यह बिलकुल स्वाभाविक था। पश्चिमी देशों को हरजाना देते-देते चीन का दिवाला निकलने लगा था। इसके कारण जनता पर करों का भार बढ़ता जा

रहा था। पश्चिमी देशों में बने हुए मालों से चीन का बाजार भर गया था। इस कारण, चीनी उद्योगों का दिवाला निकल गया। कारीगर और दस्तकार बेरोजगार हो गए। 1898 ई० में पीली नदी के बाढ़ से शान्तुंग के पन्द्रह सौ गाँव डूब गए और वहाँ के लोगों को भयंकर अकाल का सामना करना पड़ा। इस परिस्थिति में जनता के असंतोष ने एक व्यापक आन्दोलन का रूप ले लिया जिसे 'मुक्केबाजों का विद्रोह' या 'बॉक्सर विद्रोह' कहते हैं।

बॉक्सर विद्रोह के अन्य कारण—बॉक्सर विद्रोह का एक मुख्य कारण चीन के लोगों के साथ ईसाई मिशनरियों का अपमानजनक व्यवहार था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जैसे ही विद्रोह आरम्भ हुआ वैसे ही चीनियों ने ईसाई मिशनरियों को अपना लक्ष्य बनाया। अमेरिकी मिशनरी के एक पदाधिकारी एफ० एल० हावक्स ने इस बात को स्वीकार करते हुए कहा था कि "यह हमारी धारणा है कि रोमन चर्च की नीति ही इस विद्रोह का मुख्य कारण थी।" ईसाई पादरियों ने चीन के जनजीवन के हर पहली को प्रभावित करना शुरू कर दिया था और चीन की सारी मान्यताओं को वे नष्ट-भ्रष्ट कर रहे थे। अतएव चीन के लोग उनसे बड़े नाराज थे। साथ ही, उनके सम्बन्ध में चीन में अनेक अफवाहें फैली हुई थीं। यह विश्वास किया जाता था कि ईसाई बच्चों की आँख निकाल लेने जैसा अमानवीय अनोखा रीति-रिवाज बरता करते हैं। देश के भीतरी भागों में यह विश्वास 1900 ई० तक बहुत मजबूती से लोगों के दिलों में बना हुआ था; यद्यपि जहाँ भी ऐसे आरोपों की जाँच हुई थी वहाँ वे गलत पाए गए थे। फिर भी, ये विश्वास ईसाइयों के विरुद्ध शत्रुभावना तो पैदा करते ही थे।

विदेशी-विरोधी संस्थाएँ—इन सभी कारणों से चीन के अधिकांश लोग विदेशियों से घृणा करने लगे थे और उन्हें किसी तरह अपने देश से निकाल बाहर करना चाहते थे। चीन के कई देशभक्त इस कार्य में सक्रिय थे और इसके लिए उन्होंने कई विदेशी-विरोधी संस्थाएँ कायम कर ली थीं। इनमें 'को लाओ हुई' (भाईयों और बुजुर्गों का समाज) तथा 'ता लाओ हुई' (बड़ी तलवारवाला समाज) आदि प्रमुख थे। इनके साथ ही एक और संगठन कायम हो गया जिसका नाम 'ई-हो-छुआन' (पवित्र और व्यवस्थित मुक्केबाज समाज) था। इसके सदस्य एक मन्त्र को तीन बार पढ़ते थे और दाँत भींचकर जोरों की साँस लेते जिससे उनके मुँह में झाग आ जाता था। तब वे समझते थे कि भीतर ऐसी ईश्वरीय शक्ति का प्रवेश हो चुका है जो उन्हें गोलियों की मार से भी सुरक्षित रखेगी। वे मन और स्नायु को समन्वित करने के लिए तरह-तरह के आसन और व्यायाम करते और मुट्ठी बन्द कर अनेक शारीरिक प्रयोग करते थे। इससे उनका नाम 'मुक्केबाज' (boxer) पड़ा। शुरू में उनका नारा था 'मंचुओं को हटाओ' और 'विदेशियों का नाश करो'। परन्तु, जब बाद में मंचू-शासन ने उनके प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन किया और उनका समर्थन करने लगा तो उनके नेता चू हेंग-तिंग ने 'मंचू की रक्षा करो और विदेशियों का नाश करो' का नारा दिया। शान्तुंग के गर्वनर यू-शिएन ने भी मुक्केबाजों का समर्थन किया और अनेक बौद्ध और ताओवादी भी इस संगठन में शामिल हो गए। इस प्रकार, तरह-तरह के लोगों ने विदेशियों के खिलाफ संघर्ष करने में मुक्केबाजों का नेतृत्व स्वीकार कर लिया।

बॉक्सर विद्रोह—मुक्केबाजों ने जब भली-भाँति अपनी संस्था संगठित कर ली तब वे विद्रोह की तैयारी करने लगे। विद्रोह का प्रारम्भ शान्तुंग प्रदेश में हुआ और 1899 ई० के अन्त तक वह शान्सी, चरली तथा दक्षिण मंचूरिया में फैल गया। चीन के लोग उन विदेशियों पर खुले रूप से आक्रमण करने लगे जो चीन के विभिन्न नगरों में आलीशान कोठियों का निर्माण कर सुख से जीवन व्यतीत कर रहे थे। विद्रोहियों के मुख्य लक्ष्य ईसाई पादरी थे। शान्तुंग के गर्वनर यू-शिएन ने विद्रोहियों को भड़काया और वहाँ अनेक विदेशी जान से मार डाले गए। 1900 ई० के प्रारम्भ में विद्रोहियों का जोर पिकिंग में भी बढ़ गया। पिकिंग में स्थित विदेशी दूतावास घेर लिए गए। दूतावासों ने अपनी रक्षा के लिए समुद्र-तटों से युद्धपोतों के सैनिकों को बुला भेजा। सैनिकों को बुलाने की खबर बिजली की तरह बॉक्सर लोगों में फैल गई। उन्होंने यह समझा कि विदेशियों ने सम्मिलित रूप से चीन पर हमला कर दिया है। इस अफवाह से उनकी क्रोधाग्नि और भी प्रज्वलित हो उठी और वे दूने उत्साह से विदेशियों को मारने लगे। पिकिंग और तीन्तसिन के मध्य निर्मित रेल की लाइनों को इनलोगों ने उखाड़ फेंका और यातायात के सभी साधनों को नष्ट कर दिया। 10 जून, 1900 को बॉक्सरों ने पिकिंग में घुसकर तीन्तसिन से आई सेना की एक टुकड़ी को मार भगाया। 11 जून को जापानी राजदूत सूगीयामा की हत्या कर दी गई और 13 जून को सभी विदेशी दूतावासों पर धावे बोले गए। विदेशियों ने अँगरेजी दूतावास और पास के एक गिरजे में शरण ली। अगले दिन शहर भर में सैकड़ों ईसाइयों को पकड़कर जलाया या मार डाला गया और विदेशियों के सिर काटकर लाने पर

इनाम रखा गया। 17 जून को विदेशियों की सम्मिलित सेना ने ताकू की किलाबन्दी पर गोलाबारी शुरू की। लेकिन, उन्हें लेने के देने पड़ गए। मुक्केबाजों ने प्रतिशोध में तीन्तसिन के विदेशी ठिकानों पर हमला कर दिया। 20 जून को पिकिंग की सड़क पर एक मंचु सिपाही ने जर्मन राजदूत बैरन फॉन केत्तेलर को गोली मार दी। उसी दिन विद्रोही देशभक्तों ने करीब ढाई सौ विदेशियों की हत्या कर दी।

विद्रोहियों का उत्साह और उनकी सफलता देखकर मंचू-शासन को यह भरोसा हो गया कि अन्ततः विद्रोही अवश्य सफल होंगे। अतएव उसने विद्रोहियों का साथ देना शुरू किया। शासन की ओर से यह माँग रखी गई कि चौबीस घंटे के भीतर विदेशी लोग पिकिंग छोड़ दें। अगले दिन चीनी सरकार ने विदेशियों के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी और चीनी सेना ने मुक्केबाज दलों के साथ मिलकर विदेशी दूतावासों पर हमला कर दिया। 23 जून को एक अँगरेज का सिर काट कर एक पिंजरे में रख बाजारों में और गलियों में घुमाया गया। फलतः, चारों ओर आतंक फैल गया।

बॉक्सर विद्रोह का दमन—इसी बीच विदेशी सेनाओं ने विद्रोह के दमन का प्रबल प्रयास किया। उन्होंने एक संयुक्त सेना का संगठन किया जिसमें जापानी, रूसी, ब्रिटिश और अमेरिकी सैनिक शामिल किए गए। 14 जुलाई को उन्होंने विद्रोहियों के मुख्य गढ़ तीन्तसिन पर धावा बोला और कई दिनों की लड़ाई के उपरान्त उस पर कब्जा कर लिया। यहाँ बड़ा ही खूनी युद्ध हुआ। विदेशी सैनिकों में हताहतों की संख्या तो केवल आठ सौ के लगभग थी, लेकिन यहाँ कम-से-कम पन्द्रह हजार चीनी मार डाले गए। तीन्तसिन पर फतह करने के बाद विदेशियों की सेना पिकिंग की ओर रवाना हुई। 12 अगस्त को उसने राजधानी की किलाबन्दी तोड़ दी और दूतावासों को मुक्त किया। फिर विदेशी सैनिकों ने पिकिंग शहर को लूटना शुरू किया। 15 अगस्त को राजमाता त्जु शी राजधानी छोड़कर सिआन चली गई और ली हुंग चांग को विवश होकर विदेशियों के साथ सन्धि की वार्ता शुरू करनी पड़ी। बॉक्सर विद्रोह अब पूरी तरह दबा दिया गया था।

विद्रोह की असफलता—अपरिमित शक्ति के रहते हुए भी ताइपिंग-विद्रोह की तरह बॉक्सर विद्रोह भी असफल रहा। जितनी तेजी के साथ विद्रोह शुरू हुआ था उतनी ही तेजी के साथ वह दबा भी दिया गया। विद्रोह की असफलता का मुख्य कारण चीनी जनता में एकता का अभाव था। बॉक्सर विद्रोहियों को सम्पूर्ण चीन की जनता का सहयोग नहीं मिला। इसके अतिरिक्त, चीन के विभिन्न प्रान्तों के सूबेदारों ने भी क्रान्तिकारियों का साथ न देकर विदेशियों का साथ दिया और विद्रोह-दमन में उनका खुलकर साथ दिया। मंचू-शासन के बड़े-बड़े अधिकारियों, जैसे कैण्टन के गर्वनर ली हुंग चांग, शान्तुंग के गर्वनर युआन शीह काई और हूनान तथा हूपेह के वायसराय चांग चेह-तुंग ने विद्रोहियों का एकदम साथ नहीं दिया। पिकिंग के अफसरों, जैसे रूंग लू का विश्वास था कि विदेशियों का हराना सम्भव नहीं है, क्योंकि उन्होंने फौजों का भारी जमाव कर लिया है। राजमाता साम्राज्ञी त्जु शी ने भी खुल कर विद्रोहियों का समर्थन नहीं किया। मंचू-शासन ने अवसरवादिता का पूरा परिचय दिया। जब तक विद्रोहियों का पलड़ा भारी था, उसने उनका साथ दिया, लेकिन जैसे ही विदेशी सेना के आने से विदेशियों का पक्ष मजबूत हो गया, वैसे ही मंचू सरकार विदेशियों के साथ मिल गई और विद्रोह को दबाने के लिए कई कार्य किए। उसने एक के बाद एक कई घोषणाएँ निकाल कर चीन के लोगों को चेतावनी दी कि चीन की जनता 'बॉक्सर के बुरे तत्त्वों' का साथ न दे और अराजकता को मिटाने में सरकार के साथ सहयोग करे। ऐसा करने पर पिकिंग सरकार विवश थी, क्योंकि विदेशी शक्तियों से मंचू राजवंश को यह चेतावनी मिल चुकी थी कि यदि विद्रोह दबाकर विदेशियों की सुरक्षा की गारण्टी न दी गई तो इसका परिणाम राजवंश के भविष्य के लिए हितकर नहीं होगा। अतः, मंचू सरकार ने विदेशियों का साथ दिया और विद्रोह दबा दिया गया।

बॉक्सर समझौता—बॉक्सर विद्रोह ने चीन के विघटन का एक अच्छा अवसर दिया था, लेकिन एक बार फिर विदेशियों की आपसी नोंक-झोंक और लोभ-लालच से चीन की रक्षा हो गई। बॉक्सरों की पराजय और पिकिंग पर अन्तरराष्ट्रीय सेना के अधिकार के बाद विदेशी राष्ट्रों ने चीन को दण्ड देने और भविष्य के लिए सुरक्षा की व्यवस्था के प्रश्न पर विचार का लम्बा-चौड़ा कार्यक्रम आरम्भ किया। अन्त में, सितम्बर, 1904 में शान्ति समझौते की अन्तिम व्यवस्था की गई। विदेशी राष्ट्रों की पारस्परिक ईर्ष्या ज्यों-की-त्यों थी। इसलिए चीन को दण्ड देने के प्रकार और स्वरूप पर अत्यधिक कठिनाई से समझौता हो सका। रूस की महत्त्वाकांक्षा ने इस कार्य को अत्यन्त कठिन बना दिया।

बॉक्सर विद्रोह के समय विद्रोहियों ने चीनी पूर्वी रेलवे पर आक्रमण कर मुकदेन और त्सित्सीहार के रूसियों को निकाल बाहर कर दिया था और कुछ रूसी इलाकों पर कब्जा कर लिया था। रूस ऐसे ही मौके की ताक में था। इसका बदला लेने के लिए रूसी सरकार ने मंचूरिया पर पूरी तरह कब्जा करने का

निश्चय किया और अक्टूबर, 1900 में रूस की सेना मंचूरिया में घुस आई । वहाँ के चीनी गर्वनर ने बाध्य होकर रूसी अधिकारियों से एक समझौता किया और मंचूरिया को रूसी प्रभाव क्षेत्र मान लिया। रूस की इस प्रसारवादी नीति का अन्य यूरोपीय देशों ने विरोध किया। 1901 ई० की 5 फरवरी को जापान की सरकार ने यूरोपीय राज्यों से अनुरोध किया कि वे मंचूरिया पर रूसी प्रभाव क्षेत्र कायम होने का विरोध करें। अन्त में, सभी राष्ट्र इस बात पर सहमत हो गए कि रूस को रोकने के लिए चीन की प्रादेशिक अखण्डता की गारण्टी दी जाए। लेकिन, उनका विचार चीन से पूरा माल ऐंठना भी था। अतः, इन सभी विरोधी तत्त्वों को मिलाकर चीन के साथ समझौते का एक मसविदा तैयार हुआ और 7 सितम्बर को इस पर हस्ताक्षर हो गया। इस समझौते को बॉक्सर-प्रोटोकल कहते हैं। इसकी शर्तें निम्नलिखित थीं —

(i) चीन विद्रोह में हुई हानि के हरजाने के रूप में पैंतालीस करोड़ तैल अथवा 33,30,00,000 डालर 391 वार्षिक किश्तों में चार प्रतिशत सूद के साथ अदा करेगा और इसकी अदायगी के लिए नमक-कर और समुद्री व्यापार की चुंगी की जमानत देगा। यह कुल रकम बारह राज्यों में बाँटी जानेवाली थी।

(ii) विद्रोह में भाग लेनेवालों को मृत्युदण्ड दिया जाएगा। जिन प्रान्तों में विदेशियों का कत्लेआम हुआ था, उन प्रान्तों के नागरिकों को सरकारी सेवा से वंचित करने के लिए पाँच वर्षों तक प्रतियोगिता परीक्षाओं में बैठने से वंचित कर देना था।

(iii) पिकिंग में दूतावास की रक्षा के लिए स्थायी रूप से विदेशी सेना रहेगी; ताकू की किलाबन्दी तोड़ दी जाएगी और पिकिंग के समुद्र तक का इलाका विदेशी संरक्षण में रहेगा।

(iv) सुंगली यामेन के बजाय विदेश कार्यालय खोला जाएगा और सम्राट् से मिलने का उपचार समाप्त किया जाएगा।

(v) विदेशी माल पर आन्तरिक चुंगी खत्म की जाएगी और उसकी जगह साढ़े सात प्रतिशत का अतिरिक्त कर लगाया जाएगा। खानों पर से पाबन्दी उठाई जाएगी जिससे विदेशी धन इस ओर आकृष्ट हो सके। सब देशी चुंगी की चौकियाँ विदेशी कर विभाग की निगरानी में काम करेंगी।

(vi) मुकदेन और शान्तुंग में विदेशियों को रहने और व्यापार करने की पूरी सुविधा होगी। तीन्तसिन को चीन की सरकार खाली कर देगी और इसे विदेशियों के कब्जे में कर दिया जाएगा।

(vii) चीन की सरकार प्रान्तीय गर्वनरों को अलग-अलग आज्ञप्तियाँ देगी जिसमें इस बात का आदेश दिया जाएगा कि वे विदेशी-विरोधी किसी भी विद्रोह को तत्काल दबाने में सक्रिय कदम उठाएँ।

(viii) विदेशी राज्यों के साथ चीन ने जितनी सन्धियाँ की हैं, उनमें समयानुसार परिवर्तन हों।

(ix) दो वर्षों के लिए चीन में हथियार, गोला-बारूद और युद्ध-सामग्री के आयात और निर्माण की मनाही रहेगी। इसे विदेशियों की इच्छा के अनुसार दो वर्ष के लिए आगे बढ़ाया जा सकता है।

(x) जर्मनी और जापान के राजदूतों की हत्या के लिए चीन की सरकार माफी माँगेगी और इसके लिए उसका एक प्रतिनिधि दल बर्लिन तथा टोकियो जाएगा। जिस स्थान पर जर्मन राजदूत की मृत्यु हुई थी, वहाँ उसका स्मारक बनाया जाएगा।

अप्रैल, 1902 में रूस के साथ चीन की एक दूसरी सन्धि हुई जिसके अनुसार यह तय किया गया कि यदि कोई झगड़ा नहीं हुआ तो सितम्बर, 1903 तक रूस छह-छह महीनों के अन्दर पर तीन बार करके अपनी फौज मंचूरिया से हटा लेगा। लेकिन, रूस ने अपना यह वादा कभी पूरा नहीं किया।

विद्रोह और समझौते का महत्त्व—बॉक्सर-प्रोटोकल द्वारा एक ओर जहाँ मंचू सम्राट् की प्रतिष्ठा पर आँच आई, वहाँ दूसरी ओर चीन में साम्राज्यवादियों की स्थिति अत्यन्त सुरक्षित हो गई। अब मंचू सरकार इन विदेशियों को ही अपना स्वामी और संचालक मानने लगी और विदेशी शक्तियाँ भी अपने को मंचू सरकार का अभिभावक मानने लगीं। नाममात्र के लिए चीन की राजनीतिक स्वतंत्रता को अवश्य स्वीकार किया गया, लेकिन इसमें विदेशियों का केवल यही इरादा था कि मंचू लोग गद्दी पर आसीन रहें और विदेशियों के इशारे पर नाचते रहें। चीन के शोषण में अभी तक जो बाधाएँ थीं उन्हें इस समझौते ने दूर कर दिया।

लेकिन, बॉक्सर विद्रोह का एक लाभदायक परिणाम भी हुआ। मंचू शासकों ने यह महसूस किया कि

चीन में सुधारों की सख्त आवश्यकता है। जब तक सुधार योजनाओं को लागू कर जापान की तरह चीन को आधुनिक राज्य नहीं बनाया जाएगा तब तक चीन पर से विदेशी प्रभुत्व समाप्त नहीं किया जा सकता है। इस अनुभव के बाद ही राजमाता त्जु शी ने सुधारों का विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इन सुधारों का वर्णन हम आगे करेंगे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बॉक्सर विद्रोह से चीन के राजनीतिक भविष्य पर दूरगामी प्रभाव पड़े। इससे मंचू वंश की समाप्ति और गणराज्य की स्थापना का समय निकट आ गया। इस रूप में वह चीन की क्रान्ति की प्रगति में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। बॉक्सर विद्रोह की अपनी दुर्बलताएँ थीं। उसके पास रचनात्मक कार्यक्रम का अभाव था और उसका स्वरूप कई अर्थों में प्रतिक्रियावादी था। फिर भी वह चीन में बढ़ते हुए असन्तोष, विदेशी अधिकार और शोषण के विरुद्ध क्षोभ और प्रतिरोध की उसकी इच्छा का असंदिग्ध प्रमाण था। वह इस बात का भी प्रबल सबूत था कि चीन के लोग एकदम मुर्दा नहीं हो गए हैं; राष्ट्रवाद की आग उनमें विद्यमान है और वह किसी भी दिन प्रज्ज्वलित हो सकती है।

□□□

अध्याय 9

चीन में सुधार और 1911 ई० की क्रान्ति

1. चीन में सुधारों की गूँज

पृष्ठभूमि—1894-95 के चीन-जापान युद्ध के पश्चात पश्चिमी देशों द्वारा चीन की लूट-खसोट का काम बड़ी बेशर्मी के साथ शुरू हुआ और चीन में इसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई और कुछ चीनियों ने सुधारवाद का नारा उठाया। हम पढ़ चुके हैं कि 1898 ई० में सुधारवादियों से प्रभावित होकर सम्राट् ने चालीस आदेश जारी किए। लेकिन, प्रतिक्रियावादियों को यह योजना पसन्द नहीं आई और सम्राज्ञी त्जु शी पर दबाव डालकर उन्होंने सुधार की यह योजना रद्द करा दी। हम यह भी पढ़ चुके हैं कि यद्यपि मंचू-शासन ने सुधारवाद को दबा दिया, पर वह पश्चिमी देशों की लूट-खसोट और हड़प-झड़प के कारण पैदा हुई घृणा के ज्वार को नहीं रोक सका। इस परिस्थिति में चीनी जनता के रोष ने एक व्यापक आन्दोलन का रूप ले लिया, जिसे बॉक्सर विद्रोह कहते हैं। यह विद्रोह मुख्यतः विदेशियों के विरुद्ध था, लेकिन विदेशियों ने सेना का संगठन कर इसे दबा दिया और चीन को बाध्य किया कि वह बॉक्सर प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करे। इस समझौते ने चीन पर कई तरह की पाबन्दियाँ लगा दीं और चीन की लूट-खसोट का मार्ग पहले की अपेक्षा और भी प्रशस्त हो गया।

बॉक्सर प्रोटोकोल ने मंचू-शासन का दिवालियापन स्पष्ट कर दिया और चीन में सब जगह सुधारों की माँग होने लगी। मंचू-शासन ने भी समझा कि जब तक चीन में सुधार कर उसे एक सशक्त राष्ट्र नहीं बनाया जाता, तब तक विदेशियों की लूट-खसोट नहीं रुक सकती। रूस पर जापान की विजय ने इस भावना को और भी प्रबल बना दिया। सम्राज्ञी त्जु शी भी सुधारों की आवश्यकता का अनुभव करने लगी।

सुधारों का कार्यक्रम—सबसे पहले राजनीतिक सुधारों का सवाल आया। इसके लिए 1905 ई० में पाँच व्यक्तियों का एक दल विदेशों की सांविधानिक पद्धतियों के अध्ययन के लिए बाहर भेजा गया। वापस लौटकर उसने संविधान बनाने का काम शुरू किया। 1908 ई० में इसके परामर्श के अनुसार सरकार ने एक नौ वर्ष के सांविधानिक कार्यक्रम की घोषणा की। इसके अनुसार हर वर्ष कुछ सैनिक और दीवानी परिवर्तन करने की व्यवस्था थी।

इस घोषणा को कार्यान्वित करने के लिए चीन में पहले-पहल 1909 ई० में आम चुनाव हुआ और प्रान्तीय विधानसभाओं की बैठक हुई। इन्होंने राष्ट्रीय संसद की जोरदार माँग की। अतएव, 1910 ई० में पिकिंग में केन्द्रीय विधानसभा का पहला अधिवेशन हुआ। इसे कानून बनाने का आंशिक अधिकार था और बजट पर भी इसका कुछ नियन्त्रण था। लेकिन, इसके दो सौ सदस्यों में से आधे सम्राट् द्वारा मनोनीत होते थे। मई, 1911 में मन्त्रिपरिषद भी कायम की गई, लेकिन इसके सदस्य विधानसभा द्वारा नियुक्त नहीं थे, बल्कि सम्राट् द्वारा मनोनीत थे और उसी के प्रति उत्तरदायी थे।

सम्राज्ञी त्जु शी ने सेना में भी सुधार किया। 1911 ई० में एक आदेश निकला और चीन के लिए एक राष्ट्रीय सेवा संगठित की गई, जिसमें पश्चिमी तरीके का अनुकरण किया गया। इसी काल में कुछ कानूनी सुधार किए गए। 1907 ई० में न्याय विभाग को सामान्य प्रशासन से अलग किया गया और 1911 ई० में एक दण्ड संहिता बनी।

शिक्षा में सुधार—शासन ने शिक्षा सम्बन्धी सुधारों में काफी रुचि प्रकट की। 1901 ई० में एक राष्ट्रीय विद्यालय व्यवस्था बनाई गई और 1903 ई० में शिक्षा मंत्रालय कायम किया गया। अगले वर्ष इसने जापानी नमूने की शिक्षा-पद्धति तैयार की। इसमें बच्चों की पाठशाला, प्राथमिक विद्यालय, माध्यमिक विद्यालय, उच्चतर विद्यालय, प्रान्तीय महाविद्यालय और केन्द्रीय विश्वविद्यालय का विधान था। शिक्षा के स्तरों और प्रशासन में एकरूपता लाने के लिए एक केन्द्रीय बोर्ड की व्यवस्था की गई। 1905 ई० में पुराने ढर्रे की परीक्षाएँ समाप्त की गईं। 1907 ई० में कन्याओं के लिए भी प्राथमिक पाठशालाएँ और प्रशिक्षण केंद्र खोले

गए। 1910 ई० तक चीन में 57,000 विद्यालय, 90,000 अध्यापक और 16,00,000 से अधिक विद्यार्थी हो गए। लेकिन चीन की चालीस करोड़ जनसंख्या को देखते हुए यह प्रगति नगण्य-सी थी। इस युग में जापानी विद्यार्थी काफी संख्या में विदेश जाने लगे। एक समय तो जापान में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या 15,000 तक पहुँच गई। इसके अलावा कई हजार विद्यार्थी यूरोप और अमेरिका में पढ़ते थे। इन विदेशो में पढ़नेवाले विद्यार्थियों में क्रांति की चिनगारियाँ फूटीं।

आर्थिक प्रगति और सुधार—इस युग में आर्थिक प्रगति भी हुई। सरकार ने स्वयं रेल लाइन बिछाने का काम किया। मई, 1911 में रेल लाइनों के राष्ट्रीयकरण की योजना बनाई गई । लेकिन, प्रान्तीय अधिकारियों ने इसका विरोध किया।

मंचू-शासन ने अफीम के मामले में भी सख्ती से काम लिया। 1906 ई० में सरकार ने इसकी पैदावार पर कर लगाने का निश्चय किया और कुछ महीनों के बाद इसकी खेती पर पूरा प्रतिबन्ध लगाने का निर्णय लिया। अफीम खानेवालों के लिए लाइसेंस देना आवश्यक कर दिया गया और इसकी खरीद व बिक्री पर नियंत्रण करने का प्रयास किया गया।

जनवरी, 1909 में शासन ने वित्त मंत्रालय के अन्तर्गत कर विधान सुधारने के लिए एक समिति बनाई। इसने केन्द्र और प्रान्तों की वित्त व्यवस्था को समन्वित करने की चेष्टा की। किन्तु, प्रान्तों के अधिकारियों ने इसका विरोध किया। इस झगड़े में सुधारों की योजना असफल होने लगी।

सम्राज्ञी की मृत्यु—15 नवम्बर, 1908 को सम्राज्ञी त्जु शी की मृत्यु हो गई। वह मंचू राजवंश की एक विलक्षण महिला थी, जिसने 1861 ई० से चीन की राजनीति को अपने व्यक्तित्व से प्रभावित किया। उसकी शक्ति और साहस के सामने सब झुकते थे। उसने अपने व्यक्तित्व द्वारा एक पीढ़ी तक मंचू-शासन के गिरते हुए घर को थामे रखा। लेकिन, साथ ही उसमें क्रूरता और षड्यंत्र की भावना कूट-कूट कर भरी थी। कट्टरता, रूढ़िवादिता, अहंकार और अभिमान ने उसके कौशल और योग्यता को कुण्ठित कर दिया था।

सम्राज्ञी के मरने के एक दिन पहले सम्राट् कुआंग शू मर चुका था। उसके मरते ही साम्राज्ञी ने अपने आजीवन मित्र रूंग लो के दो वर्षीय पौत्र फू ची को सिंहासन के लिए चुन लिया और उसके पिता को संरक्षक नियुक्त किया। दूसरे दिन जब सम्राज्ञी की मृत्यु हो गई तो मंचू-शासन का शीराजा बिखरना निश्चित हो गया। नए संरक्षक ने बड़े बुरे समय में अपना शासन शुरू किया । वह सुधारों का पक्षपाती तो था, लेकिन वह शासन का मंचूकरण करना चाहता था। अतः, चीनियों को विशिष्ट पदों से हटाया जाने लगा। इससे देश में घोर असन्तोष फैला। प्रान्तीय सरकारों ने केन्द्र की अवहेलना शुरू कर दी। चारों तरफ अराजकता फैल गई। इसी दुर्बलता, पतन और विघटन की अवस्था में 1911 ई० की चीनी क्रान्ति के फलस्वरूप मंचू-शासन की समाप्ति हुई।

2. 1911 ई० की चीनी क्रान्ति
(CHINESE REVOLUTION OF 1911)

चीन के राजनीतिक जीवन को वहाँ की प्राचीन राजनीतिक विचारधारा ने बहुत हद तक प्रभावित किया है। इस विचारधारा के अनुसार सारा देश एक राष्ट्रीय परिवार माना जाता था। इसका प्रमुख सम्राट् होता था, जो विश्व के नैतिक विधान (थिएन) का प्रतिनिधित्व करता था। जब तक वह थिएन के आदेश का पालन करता था और जनता की भलाई में रत रहता था, तब तक वह आदर का पात्र बना रहता था। लेकिन, जब वह अपने पथ से हट जाता था और लोगों की बुराई में लग जाता था तो उसे हटाना जनता का कर्तव्य हो जाता था। अकाल, बाढ़, तूफान आदि प्रकृति के प्रकोप इस बात के सूचक थे कि थिएन ने सम्राट् से अपना मिंग (आज्ञापत्र) वापस ले लिया है। गरीबी, भुखमरी और अव्यवस्था जनता को क्रान्ति का संदेश देती थीं और सम्राट् को हटाने के लिए प्रेरित करती थीं। कन्फ्यूशियस ने कहा था कि पाप और दुराचार की अवस्था में पुत्र का कर्तव्य पिता का विरोध और मंत्री का कर्तव्य राजा का विरोध करना है। मेन्शियस ने लिखा है कि "यदि राजा अपनी प्रजा को घास और मिट्टी समझे तो प्रजा को उसे दस्यु और शत्रु समझना चाहिए।" ये भावनाएँ चीन में हमेशा राजनीतिक जागरूकता बनाए रही हैं, जो विद्रोह, क्रान्ति और आन्दोलन के रूप में प्रकट होती आई है। 1911 ई० की चीनी क्रांति के संदर्भ में हम चीन की इस राजनीतिक विचारधारा को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते।

क्रान्ति के कारण

विदेशी शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया—अन्तरराष्ट्रीय जगत में चीन ने हमेशा अपने को सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र माना है। वह अपने को विश्व सभ्यता का केन्द्र मानता था और चीनी राज्य 'ईश्वरीय साम्राज्य' समझा जाता था। लेकिन, उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में चीन न तो विश्व सभ्यता का केन्द्र ही रहा और न संसार की अन्य जातियाँ बर्बर ही रहीं। दो अफीम युद्धों में पराजय के बाद चीन का सारा आत्माभिमान और गर्व गिरकर चकनाचूर हो गया। जब यूरोपीय लुटेरों ने चीन का दरवाजा जबरदस्ती खोल दिया, तब से चीन पर आर्थिक प्रभुत्व कायम करने के लिए विविध यूरोपीय देशों में एक भीषण होड़ प्रारम्भ हो गई। चीन के बन्दर-बाँट और लूट-खसोट के क्रम में उस महान प्राचीन देश का भीषण आर्थिक शोषण प्रारम्भ हुआ। चीन विविध यूरोपीय राज्यों के मध्य प्रभावक्षेत्रों में बाँट लिया गया और विदेशियों को चीन में कई तरह के विशेषाधिकार प्राप्त हुए। इन विशेषाधिकारों के कारण चीन की प्रभुसत्ता बहुत हद तक सीमित हो गई और चीन नाममात्र के लिए स्वतंत्र रह गया। चीन के कुछ देशभक्त नागरिक अपने देश की इस दुर्दशा से बहुत चिन्तित रहते थे। उन्होंने समझ लिया कि जब तक उन्हें विदेशियों से छुटकारा नहीं मिलेगा, तब तक उनकी स्थिति में किसी तरह का सुधार नहीं होगा। वे मंचू-शासन को चीनी जनता का विदेशियों द्वारा शोषण के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी मानते थे। इसलिए विदेशियों का विरोध करने के लिए और मंचू-शासन का अन्त करने के लिए वे अपना संगठन बनाने लगे। 1853-1864 का ताईपिंग विद्रोह (देखिए पृष्ठ 23a) इसी अनुभव का परिणाम था। यद्यपि ताईपिंग विद्रोह दबा दिया गया, लेकिन चीनियों की विद्रोही भावना नहीं कुचली जा सकी। विदेशियों को हर्जाना देने के लिए चीनी जनता पर अधिकाधिक कर लगाए गए, जिससे उनका जीवन और असह्य हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में विदेशियों का शोषण इस कदर बढ़ गया कि चीनी जनता का जीवन अत्यन्त कष्टमय हो गया। अतः, 1900 ई० में चीन में बॉक्सर विद्रोह हुआ, जिसके मूल में चीनवालों की विदेश विरोधी भावना थी। लेकिन, बॉक्सर विद्रोह भी दबा दिया गया। चीन की जनता के समक्ष विदेशी शोषण से छुटकारा पाने के लिए अब एक व्यापक क्रान्ति के सिवा कोई दूसरा विकल्प न रहा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चीन की जो यह दुर्दशा हो रही थी, उसके लिए वहाँ की निकम्मी सरकार बहुत हद तक जिम्मेवार थी। वस्तुतः, इस समय चीन की शासन-व्यवस्था पूर्णतः विकृत हो गई थी। पिकिंग की केन्द्रीय सरकार एकदम निर्बल थी और चीनी साम्राज्य के विविध प्रान्तों पर नाममात्र के लिए भी उसका नियन्त्रण नहीं रह गया था। प्रान्तों के प्रान्तपति इस अवस्था से लाभ उठाकर सम्राट् के आदेशों की उपेक्षा करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। चीनी सरकार की आर्थिक स्थिति भी बहुत खराब थी। यही कारण था कि विदेशी राज्यों का मुकाबला कर सकता चीन के लिए सम्भव नहीं थी। और चीन-जापान युद्ध (1894 ई०) तथा बॉक्सर विद्रोह (1900 ई०) के अवसर पर उसे विदेशी राज्यों के सम्मुख नीचा देखना पड़ता था। मंचू-सम्राट् एकदम निर्बल हो गए थे और उसके लिए ऐसे समय चीन का शासन सँभालना अत्यन्त कठिन हो गया था। ऐसी स्थिति में इस तरह की सरकार को बदलने के लिए देश में क्रान्ति का होना अनिवार्य हो जाता है।

सुधारों की असफलता—ऐसी स्थिति में देश को क्रान्ति से बचाने का एक उपाय होता है शासन-व्यवस्था में सुधार। चीन में सुधारों के लिए कुछ दिनों से आन्दोलन हो रहा था, लेकिन सम्राज्ञी त्जू शी एक प्रतिक्रियावादी शासिका थी और वह शासन-व्यवस्था में किसी तरह का परिवर्तन नहीं चाहती थी। इस हालत में चीन के देशभक्त यह सोचने के लिए मजबूर हो गए कि मंचू-शासन का अन्त कर एक नई क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना की जाए। विदेशी शोषण से देश की रक्षा के लिए यही एकमात्र उपाय था।

बॉक्सर विद्रोह के उपरान्त चीन के सुधारवादियों ने एक और प्रयास किया और सम्राज्ञी त्जु शी को कुछ सुधार योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए बाध्य किया। इसलिए चीन में सुधारों की एक योजना बनी और उसे लागू भी किया गया। सेना के संगठन में कई सुधार किए गए। 1905 ई० में चीन की पुरानी परीक्षा पद्धति समाप्त करने की आज्ञा जारी की गई और चीनी शासनयंत्र को आधुनिक ढंग पर ढालने का यत्न किया गया। रूस और जापान के युद्ध में जापान की विजय (देखिए पृष्ठ 84a) से भी चीन में सुधारवादी आन्दोलन को पर्याप्त बल मिला। यदि जापान पश्चिमी तरीके अपनाकर पश्चिम को पराजित कर सकता है तो चीन ऐसा क्यों नहीं कर सकता? चीन के देशभक्तों के दिल में यह विचार प्रबल हो गया। इस हालत में चीन में सुधार आन्दोलन ने तीव्र रूप धारण कर लिया, लेकिन सरकार की ओर से सुधार-कार्य

अत्यन्त धीमी गति से कार्यान्वित किए जा रहे थे। सरकार बहुत धीरे-धीरे कोई कदम उठाती थी। 1908 ई० में सम्राज्ञी त्जु शी की मृत्यु हो गई और उसकी जगह मंचू-राजकुमार फू ची गद्दी पर आया। उसने सम्राज्ञी द्वारा प्रारम्भ किए गए शासन-सुधार जारी रखे। 1909 ई० में उसी के आदेशानुसार प्रान्तों में विधानसभाओं की स्थापना हुई। अक्टूबर, 1910 में सम्पूर्ण चीन के लिए प्रथम बार राष्ट्रीय महासभा की स्थापना की गई। इस राष्ट्रीय महासभा में उग्रवादियों का बहुमत था और इसके सदस्यों ने शासनसुधार के लिए बड़ी प्रबलता के साथ माँग शुरू कर दी। सुधारवादी लोग चीन में संसदीय शासन और वैध राजसत्ता की स्थापना चाहते थे। यदि इस समय मंचू वंश के शासक बुद्धिमानी से काम लेते और संसदीय शासन पद्धति की स्थापना के लिए कोई कदम उठाते तो सम्भव था कि उनके खिलाफ चीन में क्रान्ति नहीं होती और मंचू-राजवंश कायम रह जाता, लेकिन मंचू-शासक अब तक एकदम बेकार और घमण्डी हो गए थे और वे समय की गति नहीं पहचानते थे। उन्होंने संसदीय व्यवस्था कायम करने की माँग ठुकरा दी। इस हालत में क्रान्ति का होना अवश्यम्भावी हो गया।

नए विचारों की उथल-पुथल—चीन की नई पीढ़ी में जागरण चीन की क्रान्ति का एक आधारभूत कारण था। बीसवीं सदी के शुरू में चीनी युवकों के मस्तिष्क में बड़ी बेचैनी थी। 1905 ई० में चीन की प्राचीन परीक्षा पद्धति का अन्त हो गया और राजकीय पदों पर नियुक्ति के लिए आधुनिक शिक्षा को महत्त्व दिया गया। इसलिए, 1905 ई० के बाद बहुत-से चीनी विद्यार्थी अमेरिका और यूरोप जाने लगे, लेकिन जो लोग यूरोप या अमेरिका नहीं जा सकते थे, वे जपान में ही शिक्षा प्राप्त करने लगे। इस तरह चीनवालों का विदेशों से सम्पर्क कायम हुआ। वे यूरोप, अमेरिका आदि देशों से बहुत प्रभावित हुए और अपने देश के उद्धार के लिए पाश्चात्य देशों के नमूने पर सुधार के पक्षपाती हो गए। इस समय जापान में बहुत-से ऐसे चीनी देशभक्त रहते थे, जो चीन की सरकार के कोपभाजन बने थे और जिन्हें देश से निकाल दिया गया था। जापान में इनलोगों ने क्रान्तिकारी संगठन कायम कर लिए थे। चीन के जो विद्यार्थी जापान जाते थे, उनका सम्बन्ध इन क्रान्तिकारी संगठनों से अनिवार्य रूप से होता था और जब वे स्वदेश लौटते थे तो क्रान्तिकारी विचारों से ओतप्रोत होते थे। 1908 ई० में जो चीनी क्रान्तिकारी नेता जापान में आश्रय ग्रहण करने के लिए विवश हुए थे, वे इन चीनी विद्यार्थियों में बड़े उत्साह से अपने विचारों का प्रसार कर रहे थे। जापान के प्रभाव के कारण देश को मजबूत बनाने और समाज को आधुनिक रूप देने की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी। 1898 ई० में चीन की समस्याओं के अध्ययन के लिए और अपनी आर्थिक प्रगति एवं राजनीतिक अखण्डता बनाए रखने में उसकी मदद करने के लिए जापान में ताओ दोबून काई की स्थापना हुई। चीनी विचारकों को भी उस समय जापान से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। लियोग-छी-छाओ का विचार था कि जापान पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों का मिलनस्थल है और उसका दायित्व पूर्व की संस्कृति को पश्चिम के संस्कृति के स्तर तक पहुँचना है। उसने जापान में रहकर पाश्चात्य विद्याओं का अध्ययन किया और व्यक्तिवाद, नागरिकता, स्वतंत्र उद्योग-व्यापार, सम्राट् की जगह राष्ट्र के प्रभुत्व, पारिवारिक सम्बन्धों के स्थान पर सार्वजनिक कानूनों के महत्व और संसद, सविधान तथा लोकतन्त्रीय सरकार का समर्थन और प्रतिपादन किया। इन विचारों के प्रचार के लिए उसने 1898 ई० में 'छिंग-ई-पाओ' (लोकमत), 1902 ई० में 'शिन मिन त्सुंग-पाओ' (लोकोद्धार) और 1910 ई० में 'कुओ फेंग-पाओ' (राष्ट्रीय आत्मा) नाम की पत्रिकाएँ जारी कीं और 1907 ई० में 'चेंग-वेन-शे' (राजनीतिक-सांस्कृतिक संघ) नामक संस्था बनाई। इसके अतिरिक्त, थांग त्साई-छांग ने होनान में 'त्जू-ली हुई' (स्वतंत्र समाज) कायम किया, जिसने 1900 ई० में 'को लाओ हुइ' (भाइयों और बहनों का समाज) के साथ मिलकर हान्को में विद्रोह किया। तीन वर्ष बाद उसी इलाके में 'शया-शिंग हुइ' (चीन-पुनर्जीवन समाज) स्थापित कर उसके माध्यम से सैनिक अधिकारियों, गुप्त समाजों के सदस्यों और विद्यार्थियों को संगठित कर 1904 ई० में चांगशा में एक आन्दोलन उठाया। उसी वर्ष त्साई युवान-फेइ ने 'कुआङ-फू हुइ' (प्रकाश प्रत्यागमन समाज) नाम की संस्था द्वारा चेकिआंग और निचली यांगत्सी घाटी के छात्रों को संगठित किया। इन संघों, समाजों और संस्थाओं की धीमी और मन्दी रीति-नीति और चाल-ढाल को छोड़कर सनयात सेन ने 1894 ई० में 'शिंग-चुंग हुइ' (चीन-नवजीवन समाज) चलाया। इसकी शाखाएँ हवाई और मकाओ से हांगकांग और कैण्टन तक फैली हुई थीं। अगस्त, 1905 में उसने जापान में 'थुंग-मेंग हुइ' (संयुक्त संघ) कायम कर उसकी ओर से 'मिन पाओ' (लोकपत्रिका) निकालनी शुरू की, जिसमें वांग चिंग-वेइ, हु हान-मिन, चांग पिंगलिन आदि लेखकों ने अनेक निबन्ध प्रकाशित कर यह मत प्रकट किया कि चीन धीमे विकास की नीति को छोड़कर द्रुत क्रांति का मार्ग पकड़कर पश्चिमी देशों की बराबरी कर सकता है और उनसे आगे भी निकल सकता है। उस युग में पश्चिमी साहित्य की अनेक कृतियों का चीनी अनुवाद हुआ और लोगों को उसमें काफी रुचि हुई। लिन शू (1852-1924) ने डिकेन्स,

ड्यूमा, स्कॉट, बाल्जाक आदि लेखकों के उपन्यासों का अनुवाद किया। येन फू (1854-1921) ने 1898 में टी० एच० हक्सले के 'इवोल्युशन एण्ड एथिक्स' का, 1900 ई० में एडम स्मिथ के 'वेल्थ ऑव नेशन्स' का, 1903 ई० में जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का, 1905 ई० में उसके 'सिस्टम ऑव लॉजिक' का और 1909 ई० में माण्टेस्क्यू के 'लेस्प्री-द् लोवा' (स्पिरिट ऑफ लॉज) का भाषान्तर किया। शिक्षा के नवीनीकरण से इस प्रवृत्ति को काफी प्रेरणा मिली। फलतः, लोगों के दिमाग में नए विचार भर गए, जिन्होंने क्रान्ति की चिनगारियाँ सुलगा दीं।

आर्थिक अधोगति—चीन की क्रांति का एक और कारण था, आर्थिक दुर्दशा। आर्थिक दृष्टि से चीन की जनता में घोर अशान्ति थी। चीन की आबादी बड़ी तेजी से बढ़ रही थी और सरकार उसके भोजन का इन्तजाम नहीं कर पा रही थी। देश में जो खाद्य सामग्री उत्पन्न होती थी, वह जनता के लिए पर्याप्त नहीं थी। बढ़ती हुई आबादी के लिए अपना निर्वाह कठिन हो गया। इसके साथ ही चीन के लोग निरन्तर प्राकृतिक प्रकोप के शिकार होते रहे। देश में दुर्भिक्ष और बाढ़ों की प्रचुरता थी, जिसके कारण खेती को बहुत अधिक नुकसान पहुँचता था। 1910-11 में चीन की अनेक नदियों में भयंकर बाढ़ आई। इससे खेती तो नष्ट हुई ही, सहस्त्रों गाँव भी बह गए। लाखों व्यक्ति बेघरबार हो गए और उनकी आजीविका का कोई भी साधन नहीं रहा। ऐसा कहा जाता है कि क्रान्ति के पूर्व केवल एक साल में तीन लाख के लगभग गरीब चीनी जनता भूख से तड़पकर मर गई। सरकार ने इस स्थिति में जनता की सहायता का कोई प्रबन्ध नहीं किया। इस तरह की आर्थिक स्थिति में क्रान्ति के विचारों का आना बिलकुल स्वाभाविक था। जनसंख्या की वृद्धि और सरकार की निर्बलता के कारण इस समय चीन में प्रायः हर साल दुर्भिक्ष पड़ता था और बहुत-से लोगों को मृत्यु का शिकार होना पड़ता था। इस कारण उनमें विद्रोह की प्रवृत्ति प्रबल होती जाती थी। 1910-11 की बाढ़ तथा अकाल ने इस प्रवृत्ति को और भी अधिक उग्र बना दिया।

चीन के मजदूरों का प्रभाव—देश की आर्थिक स्थिति से परेशान होकर चीन के लोग आजीविका की तलाश में विदेशों में जाकर बसने लगे। सबसे पहले वे संयुक्त राज्य अमेरिका गए। कुछ दिनों तक अमेरिकी सरकार ने इसका कोई विरोध नहीं किया, लेकिन जब बहुत बड़ी संख्या में चीनी लोग अमेरिका पहुँचने लगे तो सरकार ने कानून बनाकर उनका आगमन रोक दिया। जब अमेरिका का दरवाजा चीनियों के लिए बन्द हो गया तो वे पास-पड़ोस के अन्य देश—मलाया, फिलीपाइन्स, हवाई द्वीप इत्यादि— में जाकर बसने लगे। इस प्रकार, चीनी जनता का एक बहुत बड़ा भाग विदेशों के सम्पर्क में आया। यह भाग पढ़े-लिखे लोगों से भिन्न था और इसके द्वारा चीन के निम्न वर्ग में क्रान्ति की भावना ने प्रवेश किया। इस वर्ग के चीनी जब विदेश से चीन लौटते थे तो वे नई भावना के साथ आते और चीन के लोगों को यह बतलाते कि किस तरह अमेरिका आदि देश उन्नत हैं और वहाँ की साधारण जनता की कैसी स्थिति है। चीन में क्रान्ति की भावना विकसित करने में इस बात से बड़ी सहायता मिली।

क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का विकास—बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में चीन में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का जोर बहुत बढ़ गया और जैसा कि हम देख चुके हैं, क्रान्तिकारी दलों का संगठन व्यापक रूप से हुआ। बॉक्सर विद्रोह के दमन के बाद चीन के कई क्रान्तिकारी दल नष्ट कर दिए गए थे, फिर भी चीन में क्रान्ति की भावना कभी दबाई नहीं जा सकी। बॉक्सर विद्रोह के तुरन्त बाद चीन में पुनः क्रान्तिकारी पार्टियाँ संगठित होने लगीं। इन क्रान्तिकारी संगठनों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था, जिसका नेता डॉ० सनयात सेन था।

सनयात सेन के कार्य—चीन के क्रान्तिकारियों को संगठित करने में डॉ० सनयात सेन का बड़ा ही महत्वपूर्ण हाथ था। उसका जन्म 1866 ई० में एक निर्धन परिवार में हुआ था। बारह वर्ष की आयु में वह हवाई द्वीप गया, जहाँ एक ईसाई पाठशाला में भर्ती हो गया। 1879 ई० से 1882 ई० तक उसने वहीं पश्चिमी विद्यालयों में शिक्षा पाई। 1882 ई० में वह चीन वापस आया और हांगकांग तथा कैण्टन में अपनी शिक्षा जारी रखी। मई, 1884 में उसने ईसाई धर्म कबूल कर लिया। 1887 ई० में वह हांगकांग में मेडिकल कालेज में दाखिल हुआ और पाँच वर्ष तक चिकित्साशास्त्र का अध्ययन कर उस विषय में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। 1884-85 के बीच चीन को फ्रांस के मुकाबले बड़ा अपमान सहना पड़ा और मंचू-शासन निष्क्रिय पड़ा रहा। इससे डॉ० सनयात सेन और उसके कुछ अन्य सहयोगियों को जबरदस्त सदमा पहुँचा और वे सब मिलकर मंचू राजवंश के अन्त की योजना बनाने लगे। अन्ततः, वे चीनी क्रांति के जन्मदाता सिद्ध हुए।

चिकित्साशास्त्र में स्नातक बनने के उपरान्त डॉ० सेन ने नौकरी की तलाश की, लेकिन उसे कहीं जगह नहीं मिली। अतएव, वह हवाई द्वीप चला गया। वहीं उसने प्रवासी चीनियों को शिंग चुंग हुइ (चीनी पुनरुद्धार समाज) मे सगठित किया और इसके द्वारा चीनी क्रान्ति के लिए धन इकट्ठा करना शुरू किया।

1894 में वह हवाई से हांगकांग आया और वहाँ उसने शिंग चुंग हुइ का सदर दफ्तर कायम किया। इसी समय से उसने एक क्रान्तिकारी सेना के संगठन का कार्य भी शुरू कर दिया और कैण्टन पर अधिकार करने की एक योजना बनाई। लेकिन, इस योजना का भेद खुल गया और मंचू-शासन ने इस अड्डे पर धावा बोलकर उसका दमन कर दिया। डॉ० सेन भाग निकला। सरकार ने उसकी गिरफ्तारी के लिए इनाम घोषित किया। इस परिस्थिति में कई कठिनाइयाँ झेलते हुए वह मकाओ और हांगकांग होता हुआ जापान पहुँचा। इसके बाद कुछ वर्षों तक सनयात सेन ने संयुक्त राज्य अमेरिका का तथा कई यूरोपीय देशों का भ्रमण किया। इसी समय उसे यूरोप के समाजवादी आन्दोलन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई और उसने कार्ल मार्क्स के 'दास कैपिटल' का गहराई से अध्ययन किया। तबसे उसके विचारों में समाजवाद का पुट आया।

1899 ई० में डॉ० सेन विदेश यात्रा से लौटकर जापान आया और योकोहामा में बस गया। लेकिन, वहाँ के चीनी निवासी उसकी ओर से उदासीन ही रहे। किन्तु, 1900 ई० के बॉक्सर विद्रोह के असफल होने पर डॉ० सेन की लोकप्रियता पुनः कायम हो गई और चीनी लोग अधिकाधिक संख्या में उसकी ओर आकृष्ट होने लगे। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर बॉक्सर विद्रोह के दमन के बाद डॉ० सेन के निर्देशन में चीन में कई जगह विद्रोह हुए। चूँकि ये विद्रोह संगठित न थे, अतएव सरकारी फौज ने इन्हें तुरन्त ही दबा दिया। किन्तु, इन घटनाओं से सनयात सेन की ख्याति में बड़ी वृद्धि हो गई। जैसा कि उसने अपनी आत्मकथा में लिखा है "1895 ई० में मेरी असफलता के बाद लोग मुझे विद्रोही और डाकू समझते थे, लेकिन 1900 ई० की असफलता के उपरान्त लोगों ने न सिर्फ मुझे गाली देना बन्द कर दिया, बल्कि उनमें जो प्रगतिवादी विचारों के व्यक्ति थे, वे मुझे मुसीबतों में फँसा देखकर मेरे प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने लगे।"

थुंग मेंग हुइ की स्थापना—चीन के नवयुवक छात्रों पर डॉ० सेन का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। 1901 ई० में टोकियो में रहनेवाले चीनी छात्रों ने अपना एक संगठन बनाया और उसके माध्यम से प्रान्तीय अधिकारियों को केन्द्रीय शासन से अलग होने की घोषणा करने की प्रेरणा दी। डॉ० सनयात सेन ने इन छात्रों का पूरा समर्थन किया और इसके साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित किया। सितम्बर, 1905 में चीन के अठारह में से सत्तरह प्रान्तों में कई सौ छात्रों ने मिलकर उसके नेतृत्व में थुंग मेग हुइ पार्टी की स्थापना की। इस दल का आदर्श चीन में मंचू-शासन समाप्त करना, पाश्चात्य देशों के शोषण से चीन को मुक्त कराना तथा देश की भूमि का राष्ट्रीयकरण करना था। इस दल के लोग चीन की सारी कठिनाइयों के लिए मंचू-शासन को जिम्मेवार मानते थे। अतएव, वे इस राजवंश के शासन को समाप्त करना क्रान्ति का प्रथम लक्ष्य मानते थे। उनके विचार में मंचू-शासन सभी पापों का मूल था और उसमें सुधार लाने का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ था। उसे तो क्रान्ति द्वारा जड़-मूल से उखाड़ फेंकना था। डॉ० सेन के एक मित्र हू हान-मिन ने आर्थिक पक्ष पर विचार करते हुए लिखा था कि "छिन और हान राजवंशों के काल में चीनी राजतंत्र की यह विशेषता थी कि इसने चीन के समाज में किसी अभिजातवर्ग को नहीं पनपने दिया। सिर्फ मंगोल और मंचू राजवंश के काल में उनकी विदेशी परम्परा के अनुकूल चीन में इस वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। इसलिए मंचुओं को हटाने के बाद चीन में कोई वर्गभेद नहीं रहेगा.....चीन में भूमि का राष्ट्रीयकरण करना अत्यन्त सरल है, क्योंकि हमारे यहाँ की भूमि व्यवस्था इसके सर्वथा अनुकूल है।"[1] उसने यह सिद्ध किया कि वर्गहीन समाज की स्थापना, भूमि का राष्ट्रीयकरण और सांविधानिक सरकार का निर्माण चीन की पुरानी ऐतिहासिक परम्परा में निहित है। इस मार्ग में केवल मंचू राजवंश बाधक है, जिसे हटाना परमावश्यक है। थुंग मेंग हुइ पार्टी ने 'मिन पाओ' नाम से एक पत्र का प्रकाशन भी शुरू किया। 1908 ई० में इस पत्र की डेढ़ लाख प्रतियाँ बिकने लगीं। इस समय तक इस दल की जड़ें सम्पूर्ण देश में जम गईं। 1906 ई० में इसके सदस्यों की संख्या दस हजार हो गई थी। कोई भी ऐसा प्रान्त न था, जहाँ इसकी शाखा स्थापित न हुई हो। विदेशों में भी इसकी शाखाएँ खुल गईं।

इन परिस्थितियों में चीन में बड़ी तीव्र गति से क्रान्तिकारी भावनाओं का विकास हुआ और विद्रोह तथा

---

1. भूमि व्यवस्था के सम्बन्ध में ध्यानपद्धति प्रचलित थी। ध्यान का अर्थ कुआँ होता है। अतएव, इसे हम 'कूप-क्षेत्र पद्धति' कह सकते हैं। चीनी लिपि में इसके लिए जो संकेत था, उसमें नौ चौकोर भाग किए जाते थे। इसी तरह भूमि के टुकड़े भी किए जाते थे और प्रत्येक इकाई में नौ भाग किए जाते थे। हर भाग का क्षेत्रफल 16.16 एकड़ होता था। हर भाग में एक परिवार खेती करता था और पूरे कूप में आठ परिवार खेती करते थे। नौवें भाग पर सामूहिक खेती होती थी, जिसकी पैदावार लगान के रूप में राज्य को दी जाती थी।

बलवे साधारण घटनाएँ बन गईं। 1905 ई० में हुआंग शिंग ने हूनान में क्रान्ति को संगठित किया। लेकिन, उसका प्रयास असफल रहा और उसे जापान भागना पड़ा। 1907 ई० में क्वांगतुंग और क्वांगसी में चार असफल विद्रोह हुए। इसी वर्ष डॉ० सनयात सेन को जापान छोड़कर हनोई आना पड़ा। वहाँ से उसने फ्रांसीसियों की मदद से कैण्टन पर कब्जा करने की कोशिश की। लेकिन, इसमें वह असफल रहा। मंचू-शासन के दबाव के कारण फ्रांसीसियों ने उसे हनोई छोड़ने पर विवश किया। इसके बाद वह सिंगापुर पहुँचा और वहाँ से यूरोप के लिए चल पड़ा। इसी बीच 1908 ई० से 1911 ई० तक चीन में और कई विद्रोह हुए। अप्रिल, 1911 में लगभग सौ क्रान्तिकारियों ने कैण्टन के वायसराय के दफ्तर पर धावा बोल दिया। कई हजार सैनिकों से उनका मुकाबला हुआ। अन्त में क्रान्तिकारी पकड़ लिए गए और उनकी हत्या कर दी गई। इस घटना को 'बृहत्तर वीरों का बलिदान' कहते हैं। इसने राष्ट्रीय मानस को आलोड़ित कर दिया और अनेक युवकों को क्रान्ति में शामिल होने की प्रेरणा दी।

तात्कालिक कारण—1911 ई० में जो क्रांति हुई, उसके कई तात्कालिक कारण भी थे। इस समय पिकिंग की केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध प्रान्तीय शासकों में विरोध की भावना विकसित हो रही थी। चीन में रेलवे लाइनों का निर्माण बड़ी तेजी से हो रहा था। पिकिंग की सरकार से अनुमति प्राप्त कर कई विदेशी फर्म चीन में रेलवे लाइनों का निर्माण करा रही थीं। चीन के कई प्रान्तपति चाहते थे कि उनके सूबों में उन्हें ही रेलवे लाइन के निर्माण का अधिकार मिले। लेकिन, पिकिंग की सरकार ऐसा करना नहीं चाहती थी। वह स्वयं रेलवे लाइनों का निर्माण करना चाहती थी। लेकिन, इसके लिए उसके पास धन का अभाव था। चीन की सरकार विदेशो से कर्ज लेकर इस काम को पूरा करना चाहती थी। विदेशी कर्ज लेने से चीन की केन्द्रीय सरकार पर विदेशियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। इस कारण प्रान्तों के शासक बड़े चिन्तित हो रहे थे और इस बात पर जोर दे रहे थे कि उनके अपने प्रदेशों में रेलवे निर्माण का भार उन्हीं के सुपुर्द कर दिया जाए। इस विषय पर केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच मतभेद बहुत बढ़ गया। प्रान्तों में केन्द्रीय शासन की नीति के कारण असन्तोष बहुत बढ़ गया और इसी समय जब एक विदेशी कम्पनी को एक रेलवे लाइन बनाने का अधिकार दे दिया गया तो क्रान्ति की लहर चारों ओर फैल गई। अनेक स्थानों पर मंचू-शासन के खिलाफ विद्रोह शुरू हो गया।

उपद्रव की शुरुआत जेचुआन प्रान्त से हुई। वहाँ रेलवे निर्माण के निमित्त पूँजी का अधिकांश भाग प्रबन्धकों ने अन्य कार्यों में लगा कर नष्ट कर दिया था। इस हालत में केंद्रीय सरकार ने साझेदारों को रकम के पचास प्रतिशत से भी कम का बॉण्ड देना निश्चित किया। इसमें अनेक व्यक्तियों का धन लगा हुआ था। अतएव, वे इस क्षति को सहने के लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने जमकर इसका विरोध किया। सम्राट् के पास विरोधपत्र भेजे गए और सितम्बर, 1911 में सभी विरोधी नेताओं को बन्दी बना दिया गया। किन्तु, उससे विद्रोह दबा नहीं, इसने तुरन्त ही क्रान्ति का रूप धारण कर लिया।

हाँको की घटना और क्रान्ति का विस्फोट—जेचुआन के आन्दोलन का प्रारम्भिक स्वरूप क्रान्तिकारी नहीं था। इसमें केवल रेलवे निर्माण की पूँजी के साझेदारों का हाथ था। लेकिन, जिस समय यह आन्दोलन जोरों पर था, उसी समय 10 अक्टूबर, 1911 को हाँको की रूसी बस्ती में एक घर में एक बम फट गया। यह घर क्रान्तिकारियों का अड्डा था, जहाँ बम बनाने का काम होता था। बम फटने से शोर मच गया और रूसी अधिकारियों ने बहुत-से विद्रोहियों को पकड़कर चीनी सरकार के वायसराय के हवाले कर दिया। उनके हाथ क्रान्तिकारियों की एक सूची भी पड़ गई, जिससे उनकी योजना का भण्डाफोड़ हो गया। पुलिस ने कुछ सैनिक अफसरों पर भी सन्देह कर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। इसपर सरकारी अफसरों के दमनचक्र से बचने के लिए फौज में जो क्रान्तिकारी थे, उन्होंने वायसराय के दफ्तर को घेर लिया और उसमें आग लगा दी। वायसराय भाग खड़ा हुआ और चीनी सेनापति ने भी शहर छोड़ दिया। जापान में शिक्षा प्राप्त एक कर्नल ली युआन हुंग ने क्रान्तिकारियों का नेतृत्व किया। विद्रोही सैनिकों ने उसके नेतृत्व में वूचांग पर अधिकार कर लिया। वहाँ जो हूपेह की प्रान्तीय विधान सभा की बैठक हो रही थी, उसने भी क्रान्तिकारियों का समर्थन किया। 12 अक्टूबर को हाँको पर अधिकार कर क्रान्तिकारियों ने कामचलाऊ सरकार कायम कर ली और ली युआन हुंग को उसका अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। इस सरकार ने क्रान्ति की प्रज्ञप्ति जारी कर सब प्रान्तों और नगरों के लोगों से मंचू-शासन को उखाड़ फेंकने की अपील की। चीन की क्रान्ति शुरू हो चुकी थी। थोड़ी-बहुत लड़ाई के बाद वूचांग के सैनिकों ने वूचांग, हैनयांग तथा हाँको पर कब्जा कर मध्य चीन के सबसे बड़े केन्द्र पर आधिपत्य कर लिया।

क्रान्ति की घटनाएँ

विद्रोह का विस्तार—विद्रोह की आग तुरन्त ही सम्पूर्ण देश में फैल गई। क्रान्ति की ज्वाला तेजी से यांगत्सी तट पर ऊपर, नीचे तथा दक्षिण की ओर फैलने लगी। दक्षिण में कुछ समय के लिए शान्तुंग प्रान्त ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी, यद्यपि वह शीघ्र ही पुनः केन्द्रीय शासन के अधीन आ गया। चिहली में भी विशेषकर सैनिकों में विद्रोह की भावना फैली, किन्तु यांगत्सी के उत्तर में शान्सी प्रान्त को छोड़कर, केन्द्रीय शासन के प्रति निष्ठावान रहे और वहाँ शासन सुदृढ़ रहा। पूरा आन्दोलन एकाएक और स्वतंत्र रूप से हुए विद्रोह की शृंखला लगता था, सुनियोजित क्रान्ति नहीं। इसका एक कारण यह था कि क्रान्तिकारी पहले विभिन्न केन्द्रों में क्रान्तिकारी भावनाओं को उभारना चाहते थे। इन छिटफुट विद्रोहों का एक दूसरा कारण यह भी था कि क्रान्ति के समर्थकों के गुट अनिवार्यतः स्थानीय स्तर पर बनाए गए थे, राष्ट्रीय स्तर पर नहीं और उनकी योजनाएँ भी स्थानीय स्तरों पर बनी थीं। यह भी दावा किया गया कि बाद में किसी तिथि को एक साथ सभी क्रान्तिकारी गुटों के विद्रोह कर देने की भी योजना बनी थी, किन्तु हाँको में बम फटने और उसके बाद की पुलिस कार्यवाही के कारण विद्रोह कर देना अनिवार्य हो गया। जो भी हो, यही तथ्य सामने आया कि क्रान्ति का कोई केन्द्रीय निर्देशन एक बहुत बाद की तिथि तक नहीं हो रहा था। मूल नेतृत्व वूचांग में केन्द्रित था, यद्यपि इसका अन्य स्थानीय गुटों की कार्यवाहियों पर कोई नियंत्रण नहीं था। अन्ततः, आन्दोलन को सुनियोजित करने के लिए सभी 'स्वतंत्र' प्रान्तों से अपने-अपने प्रतिनिधि वूचांग भेजने का अनुरोध किया गया, ताकि एक क्रान्तिपरिषद की स्थापना हो सके। एक प्रतिज्ञापत्र भी तैयार किया गया, जो बाद में गणतंत्र के अस्थायी संविधान के आधार-रूप में नानकिंग में स्वीकृत हुआ।

विदेशियों की प्रतिक्रिया—इसी बीच विद्रोह शंघाई तक पहुँच चुका था, जहाँ सैनिक शासन स्थापित किया जा चुका था। इस सरकार ने तत्काल सारे क्रान्तिकारियों की प्रतिनिधि होने की घोषणा कर दी। पू तिंग-फेंग ने, जो पहले अमेरिका में चीनी राजदूत रह चुका था, विदेशमंत्री का पद सँभाल लिया और क्रान्ति के उद्देश्यों के सम्बन्ध में एक घोषणापत्र निकालकर विदेशों से सहानुभूति की अपील की। इस सरकार ने विदेशियों से तटस्थ रहने को भी कहा और धमकी दी कि यदि उसकी पराजय हुई तो केन्द्रीय सरकार को दिए गए ऋणों को वैध नहीं माना जाएगा। चीन में इस समय स्थिति इतनी नाजुक थी कि विदेशियों ने तटस्थ रहना ही अच्छा समझा।

पिकिंग में सांविधानिक सरकार—इस घटनाओं से पिकिंग में घबराहट फैल गई। सरकार ने युआन शीह काई को हूपेह और हूनान का गवर्नर नियुक्त किया। उसने यह पद सँभालने के पहले शर्त रखी कि अगले साल संसद की बैठक बुलाई जाएगी, उसके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल बनाया जाएगा। क्रान्तिकारी दल को मान्यता दी जाएगी और उसे सेना के पुनर्गठन का पूरा अधिकार दिया जाएगा । 27 अक्टूबर को युआन को सब सेनाओं का उच्चाधिकारी नियुक्त किया गया।

इसी बीच उसने 22 अक्टूबर, 1911 को केन्द्रीय विधानसभा की बैठक बुलाई। विधानसभा इस समय मंचू राजा से सुधार करने का प्रस्ताव कर रही थी। उसने यह माँग की कि उन पदाधिकारियों को अपदस्थ कर दिया जाए, जो विदेशियों के समर्थक हैं। मंचू राजा को बाध्य होकर ऐसा करना पड़ा और विदेशियों के समर्थक सभी राजअधिकारियों को पदच्युत कर दिया गया। निस्सन्देह यह लोकमत की भारी विजय थी। इसके उपरान्त विधानसभा ने यह माँग की कि चीन के शासन को वैधानिक रूप से चलाने के लिए मन्त्रिमण्डल का संगठन किया जाए। यह भी माँग रखी गई कि जिन देशभक्तों को सरकार ने कैद कर लिया है या देश से बाहर किया है उन्हें क्षमा प्रदान कर पूरी आजादी दी जाए। मंचू राजा के सामने इन माँगों को स्वीकार करने के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं था। 29 अक्टूबर को पिकिंग और मुकदेन के बीच ल्वानची में स्थित सरकारी सेना ने धमकी दी कि वह तब तक दक्षिण की ओर नहीं जाएगी, जब तक विधानसभा द्वारा की गई माँग स्वीकार कर नहीं ली जाती। लेकिन, इस समय चीन में सबसे बड़ी कठिन समस्या प्रान्तों के विद्रोह की थी। इस समय बड़ी आवश्यकता इस बात की थी कि शासनसूत्र का संचालन एक योग्य व्यक्ति को दिया जाए, जो अव्यवस्था और विद्रोह का दमन कर देश में शान्ति की स्थापना करे। यह काम युआन शीह काई को दिया गया। 1 नवम्बर, 1911 को उसे प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त कर दिया गया। इसी बीच विधानसभा ने उन्नीस धाराओं का एक संविधान तैयार कर लिया, जिसका आशय चीन में वैधानिक राजतंत्र कायम करना था। 16 नवम्बर को यूआन शीह काई ने अपनी सरकार बना ली।

क्रान्तिकारी सरकारों का संगठन—उधर क्रान्तिकारी भी चुपचाप नहीं बैठे रहे। अक्टूबर में जिस क्रान्ति का सूत्रपात हुआ था, उसका रूप अलग-अलग विद्रोहों का था। उनमें किसी तरह का आपसी तालमेल नहीं था। किन्तु, नवम्बर में उन्हें एक केन्द्रीय संगठन के अन्तर्गत लाने का यत्न किया गया। 15 नवम्बर को शंघाई में प्रान्तों की क्रान्तिकारी सैनिक सरकारों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें 'चीनी गणतंत्र' की केन्द्रीय सरकार की स्थापना की घोषणा की गई और इसका मुख्यालय वूचांग रखा गया। लो युआन वुंग इस गणराज्य का अध्यक्ष निर्वाचित हुआ। 20 नवम्बर को सब प्रतिनिधि वूचांग की ओर रवाना हुए, लेकिन पिकिंग सरकार की सैनिक गतिविधि के कारण वे वहाँ नहीं पहुँच सके। अतः, 30 नवम्बर को वे हाँको में मिले और वहीं एक संघीय संविधान की रूपरेखा तैयार की गई। युआन शीह काई को गणराज्य का राष्ट्रपति नियुक्त करने का निश्चय किया गया। 4 दिसम्बर को क्रान्तिकारी सेना ने नानकिंग पर अधिकार कर लिया, जो उनकी अस्थायी सरकार की राजधानी बनी।

सनयात सेन का आगमन—चीन में जब क्रान्ति का विस्फोट हुआ, उस समय डॉ॰ सनयात सेन अमेरिका में था। 24 दिसम्बर को वह शंघाई पहुँचा। सभी क्रान्तिकारियों ने उसे गुटबन्दियों से दूर रहने वाला व्यक्ति मानते हुए उसका स्वागत किया और यह आशा व्यक्त की गई कि वह क्रान्ति की एकता को सही नेतृत्व प्रदान करेगा। 29 दिसम्बर को क्रान्तिकारियों ने उसे अपनी सरकार का अध्यक्ष चुन लिया। सत्तरह प्रान्तों में से सोलह प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने डॉ॰ सेन का समर्थन किया। 1 जनवरी, 1912 को उसने अध्यक्ष का पद ग्रहण कर लिया।

युआन शीह काई की अध्यक्षता में गणतंत्र का निर्माण—इस प्रकार, अब चीन में दो सरकारें हो गईं। एक नानकिंग की गणतान्त्रिक सरकार और दूसरी पिकिंग की मंचू सरकार। मंचू सरकार पूरी तरह युआन शीह काई पर आश्रित थी। सनयात सेन की क्रान्तिकारी सरकार बन जाने से युआन शीह काई को राष्ट्रपति पद पर आसीन करने की जो बातचीत चल रही थी, वह समाप्त हो गई। इससे क्रान्तिकारी सरकार और पिकिंग सरकार के बीच चल रही बातचीत का तार टूटने लगा। मंचू सरकार ने नानकिंग सरकार को कुचलने का निश्चय किया। लेकिन, इसके लिए उसके पास शक्ति नहीं थी। डॉ॰ सनयात सेन ने भी अनुभव किया कि केन्द्रीय सरकार से युद्ध जारी रखना बेकार है। दोनों पक्ष थके-माँदे थे। उनके पास धन, नेतृत्व और एकता सबकी कमी थी। साथ ही, विदेशी हस्तक्षेप का भी भय था। इसलिए चीन की दोनों सरकारों के मध्य समझौते की बातचीत चलने लगी। क्रान्तिकारी सरकार के नेताओं का कहना था कि चीन के नवनिर्माण तथा उद्धार के लिए मंचू राजवंश का अन्त होना आवश्यक है; क्योंकि मंचू-दरबार इतना विकृत हो चुका है कि उसमें नवजीवन का संचार करना असम्भव है। युआन शीह काई ने इस बात को स्वीकार किया और इसी आधार पर डॉ॰ सनयात सेन के साथ उसने 12 फरवरी, 1912 को एक समझौता कर लिया। इस समझौते के अनुसार चीन से मंचू राजवंश के शासन का अन्त कर दिया गया और चीन में गणराज्य की स्थापना कर दी गई। मंचू राजवंश के लिए राजप्रासाद छोड़ दिया गया और उसके लिए एक वार्षिक पेन्शन निश्चित कर दी गई। मंचू राजवंश की राजसत्ता की समाप्ति पर चीन में नई सरकार की स्थापना और उसके संगठन का कार्य युआन शीह काई के सुपुर्द कर दिया गया। युआन शीह काई के साथ समझौता करने के लिए डॉ॰ सनायत सेन ने राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र दे दिया और नागकिंग में एकत्र क्रान्तिकारी नेताओं ने युआन शीह काई को चीनी गणराज्य का राष्ट्रपति निर्वाचित कर लिया।

इस प्रकार, चीन की क्रान्ति का अध्याय समाप्त हुआ। चीन में मंचू राजवंश का अन्त हो गया और वहाँ एक गणराज्य की स्थापना हो गई। यह एक बहुत बड़ी घटना थी। मंचू लोगों का शासन चीन पर पिछले तीन सौ वर्षों से चला आ रहा था। उसका अन्त हो गया। एक और दृष्टि से यह बात महत्त्वपूर्ण थी। बीसवीं शताब्दी में चीन एशिया का प्रथम देश था, जहाँ गणतांत्रिक सरकार की स्थापना हुई थी। चीन के क्रान्तिकारियों ने फ्रांसवालों का अनुकरण किया और राजसत्ता का सदा के लिए अन्त कर दिया।

चीन की क्रान्ति का स्वरूप—जहाँ तक 1911 ई॰ की चीन की क्रान्ति के स्वरूप का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि यह मुख्यतः एक राजनीतिक क्रान्ति थी, जिसने सरकार के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया। इसके अतिरिक्त इस क्रान्ति की कोई दूसरी उपलब्धि नहीं हुई। जनता की आर्थिक दशा में इस क्रान्ति के फलस्वरूप कोई परिवर्तन नहीं हुआ। चीन में युआन शीह काई के नेतृत्व में प्रतिक्रियावादियों का ही बोलबाला रहा। इस दृष्टिकोण से 1911 ई॰ की क्रान्ति को एक असफल क्रान्ति माना जा सकता है।

क्रान्ति की असफलता—कई दृष्टियों से 1911 ई॰ की चीन की क्रान्ति को असफल माना जाता है। यद्यपि चीन में मंचू राजवंश का अन्त हो गया, लेकिन इसके बाद चीन में नवयुग का आगमन नहीं हुआ।

चीन की यह क्रान्ति असफल सिद्ध हुई। इसके कई कारण थे—

युआन शीह काई—चीन की क्रान्ति असफल रही, इसका एक कारण था युआन शीह काई। डॉ० सनयात सेन और अन्य क्रान्तिकारियों ने युआन शीह काई के साथ समझौता कर उसे राष्ट्रपति स्वीकार कर लिया था। लेकिन, वे इस बात को भली-भाँति जानते थे कि युआन शीह काई एक प्रतिक्रियावादी है और गणतन्त्र के प्रति उसमें किसी तरह की सहानुभूति नहीं है। इस कारण, गणतान्त्रिक सरकार का राष्ट्रपति राष्ट्र की एकता का प्रतीक नहीं बन सका, अतः क्रान्ति का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला।

राष्ट्रीयता की भावना का अभाव—राष्ट्रीयता की भावना का अभाव चीन की क्रान्ति की असफलता का एक दूसरा कारण था। चीन एक विशाल देश है। इस देश में अनेक प्रदेश हैं और मंचू-शासनकाल में इन प्रदेशों के सामन्ती शासक प्रायः स्वतंत्र थे। उनकी शासन-व्यवस्था अलग-अलग थी और लोग चीन को एक राष्ट्र के रूप में नहीं देखते थे। प्रान्तीय सूबेदार हमेशा केन्द्रीय सरकार की उपेक्षा कर अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखने का प्रयास करते थे। गणतंत्र की स्थापना से भी इस प्रवृत्ति का अन्त नहीं हुआ और चीन राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं हो सका। राष्ट्रीयता की भावना के अभाव में 1911 ई० की क्रान्ति असफल हो गई। उसका कोई विशेष परिणाम नहीं निकला।

जनता में जागरण का अभाव—किसी क्रान्ति के सफल होने के लिए एक जागरूक जनता अत्यन्त आवश्यक है। चीन में गणराज्य की स्थापना हुई, लेकिन गणतान्त्रिक सरकार तभी सफल हो सकती है, जब जनता में जागरण हो और लोग शासनकार्य में रूचि लें। लेकिन, चीन की अधिकांश जनता अशिक्षित थी और वह क्रान्ति या गणराज्य का महत्त्व समझने में असमर्थ थी। ऐसी हालत में चीन में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों की पराजय आवश्यक थी। जनता में राष्ट्रवादी भावना का अभाव और लोकतन्त्र शासन के प्रति उत्साह की कमी के कारण चीन के नए गणराज्य को अनेक विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा।

आर्थिक दुर्दशा—यदि चीन की नई सरकार जनता की आर्थिक दशा में सुधार लाने का कुछ यत्न करती तो शायद यह सम्भव था कि जनता क्रान्ति का समर्थन कर देती और उसके महत्त्व को भी समझ जाती। लेकिन, गणतान्त्रिक सरकार ने इस ओर कोई कदम नहीं उठाया। लोगों की आर्थिक परेशानी पहले की तरह ही बनी रही। इस हालत में जनता मंचू शासकों और गणतंत्र शासन में किसी तरह का भेद नहीं कर सकी। उसका असन्तोष बढ़ता ही गया। यदि चीन की नई सरकार इस समय जनता के आर्थिक कल्याण के लिए कुछ भी कर देती तो सम्भव था कि जनता क्रान्ति के महत्त्व को समझ लेती और गणतंत्र को उसका पूरा समर्थन प्राप्त हो जाता। लेकिन, चीन के दुर्भाग्य से पिकिंग सरकार के पास आर्थिक साधनों का अभाव था और वह चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकती थी।

इन्हीं सब कारणों से 1911 ई० की चीन की क्रान्ति असफल सिद्ध हुई। इन असफलताओं के बावजूद क्रान्ति के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता है। इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि मंचू राजवंश का खात्मा और चीन में गणराज्य की स्थापना मानी जाएगी। चीन की राजनीति जो वर्षों से स्थिर पड़ी हुई थी, उसे एक नई गति मिली और वह चलायमान हो गई।

□□□

चीन और प्रथम विश्वयुद्ध

चीन के युद्ध-प्रयत्न—14 मार्च, 1917 को चीन ने औपचारिक रूप से जर्मनी से सम्बन्ध तोड़ लिया। राजनयिक सम्बन्ध टूटने पर चीन के विश्वयुद्ध में सम्मिलित होने के प्रश्न को अधिक समय तक टाला नहीं जा सकता था। 14 अगस्त, 1917 को चीन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्धरत हो गया। युद्धरत देश के नाते चीन को युद्ध में योगदान तो करना था, परन्तु इसके लिए न तो उसमें सामर्थ्य थी और न उत्साह ही। 1918 ई० के नवम्बर में जब जर्मनी का पतन प्रायः निश्चित हो गया था, तुआन ची जुई की सरकार ने उत्साहपूर्ण युद्धनीति अपनाई और शत्रु देश के नागरिकों पर कठोर नियंत्रण किया एवं उनकी सम्पत्ति जब्त करने की दिशा में कार्यवाहियाँ कीं। इस विलम्बित नीति का लक्ष्य यह था कि आसन्न शान्ति सम्मेलन में चीन को भी कुछ अनुकूल वातावरण मिल सके। चीनी नेताओं को यह भी अनुभव होने लगा था कि चीनी जनमत मित्रराष्ट्रों के पक्ष में आ रहा है।

विश्वयुद्ध का चीन पर प्रभाव—विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप चीन की कठिनाइयाँ पहले की अपेक्षा और भी बढ़ गईं, लेकिन औद्योगिक विकास के दृष्टिकोण से युद्ध से चीन को लाभ ही पहुँचा। युद्ध के कारण विदेशी आयात में कमी हो जाने से देशी उद्योगों को पनपने का अच्छा मौका मिल गया। कोयले की निकासी में सौ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसी प्रकार सूत के उत्पादन में वृद्धि हुई। 1916 ई० में सूती कपड़े के कुल बयालीस कारखाने थे। 1920 ई० में उनकी संख्या एक सौ बीस तक पहुँच गई। इस तरह के आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप चीन के आर्थिक संगठन में परिवर्तन हुआ और नए-नए व्यापारिक निगम बने। कई नए-नए बैंक भी खुले, लेकिन देशी पूँजीपतियों को विदेशी पूँजीपतियों के कड़े मुकाबले का

सामना करना पड़ा; क्योंकि 1920 ई० तक चीन के सूती कपड़े के उद्योग का आधा भाग उनके हाथ था। रेल मार्गों के एक-तिहाई भाग पर उनका स्वामित्व और बाकी उनके पास बन्धक था, आधी जहाजरानी उनके कब्जे में थी और समुद्री आयात-निर्यात का अस्सी प्रतिशत भाग उनके जहाजों द्वारा होता था। इससे आर्थिक जगत में बड़ी स्पर्धा पैदा हुई, जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरणा दी।

औद्योगिक विकास से शहरी मजदूरों की संख्या भी बढ़ी। 1920 ई० तक उनकी संख्या करीब बीस लाख हो गई। लड़ाई के दिनों में लगभग एक लाख चालीस हजार चीनी मजदूर फ्रांस ले जाए गए, जहाँ उन्होंने आधुनिक राजनीतिक विचार ग्रहण किए। इसके फलस्वरूप, चीन में साम्यवादी विचारों, यूनियन के सिद्धान्तों और आन्दोलन की प्रवृत्तियों का समावेश हुआ।

उन दिनों चीन के कारखानों में मजदूरों की अवस्था खराब थी। उन्हें हफ्ते में हर रोज काम करना पड़ता था। हर दिन बारह घण्टे की ड्यूटी रहती थी। छुट्टियाँ नहीं के बराबर थीं। तनख्वाहें बहुत कम थीं। बच्चों को भी सख्त काम पर लगाया जाता था। चारों ओर गन्दगी का राज्य था। रेशम के कारखानों में औरतें अपने बच्चों को खौलते पानी की नादों के नीचे रखकर काम करती थीं। उनके रोने-चीखने से कान पड़ी आवाज भी सुनाई न देती थी। मजदूरों में अफीम, जुए, अय्याशी और बदमाशी की बुरी आदतें थीं। लेकिन, धीरे-धीरे जागरण भी बढ़ रहा था। 1895 से 1918 ई० के बीच डेढ़ सौ के करीब हड़तालें हुईं। लड़ाई के बाद साम्यवादी आन्दोलन का जोर हुआ, जिसकी चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी।

पेरिस का शान्ति सम्मेलन और चीन—जिस समय युद्ध समाप्त हुआ और शान्ति सन्धि के लिए पेरिस शान्ति सम्मेलन का आयोजन हुआ, उस समय चीन में दो सरकारें काम कर रही थीं। कैंटन की सरकार, जिसका अध्यक्ष डॉ० सनयात सेन था तथा पिकिंग की सरकार जिसका अध्यक्ष तुआन ची जुई था। यद्यपि पिकिंग और कैण्टन सरकारों में स्वदेश में एकता नहीं थी, परन्तु पेरिस में उनके प्रतिनिधियों ने एकता का परिचय दिया। चीनी प्रतिनिधि दल में दोनों पक्षों के प्रतिनिधि थे। सी० टी० वांग और वेलिंगटन कू इस प्रतिनिधि दल के मुख्य सदस्य थे। राजनीतिक चातुर्य और तड़क-भड़क में चीनी प्रतिनिधि दल पेरिस में अद्वितीय था। वांग और कू दोनों ने विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का जबरदस्त समर्थन किया। ये दोनों जर्मनी के साथ शान्ति सन्धि करने की समस्या में उतने व्यस्त नहीं थे। इनकी रुचि का मुख्य केन्द्र चीन को उसकी अर्द्ध औपनिवेशिक स्थिति से मुक्त कराना था। अधिकांश मित्रराष्ट्रीय राजनेताओं के लिए यह उद्देश्य चौंका देनेवाला था, क्योंकि इसका अर्थ केवल जापान के 'विशेष हितों' को ही चुनौती देना नहीं था, बल्कि प्रभावक्षेत्रों के सिद्धान्त एवं 'असमान सन्धियों' पर भी आपत्ति करना था, जिसस सभी विजेता देश सम्बद्ध थे। जापान, इंगलैण्ड और फ्रांस का अविश्वास इसलिए और बढ़ गया, क्योंकि पेरिस सम्मेलन से पहले और उसके दौरान भी वांग और कू ने व्यवस्थित रूप से अमरीकी प्रतिनिधि दल की सहानुभूति प्राप्त करने का यत्न किया तथा अमरीकियों ने भी चीनियों को वांछित प्रोत्साहन देने में कोई संकोच नहीं किया।

शान्ति सम्मेलन में चीन का दावा—चीनी प्रतिनिधि दल ने शान्ति सम्मेलन में प्रस्ताव रखा कि 1915 ई० और 1918 ई० में जापान और चीन के बीच जो समझौते हुए हैं, वे रद्द कर दिए जाएँ और शान्तुंग प्रदेश में जर्मनी के जो पट्टे और अधिकार थे, वे उसे (चीन को) वापस कर दिए जाएँ। अपने पक्ष में उसने कई तर्क दिए। पहले तो चीन ने कहा कि जापान और जर्मनी के बीच समझौते के परिणाम को स्वीकार कर लेने के 1915 ई० के समझौते के बावजूद चीन के युद्ध में शामिल होने से ही जर्मनी को पट्टे पर दी गई भूमि स्वयंमेव सीधे चीन की हो गई। चीन का दावा था कि शान्तुंग सन्धि तथा अन्य सभी सम्बद्ध समझौते उसी दिन पूर्णतया समाप्त हो गए, जिस दिन चीन युद्ध में शामिल हुआ। इसीलिए 1918 ई० के समझौते भी समाप्त हो गए; क्योंकि उनकी वैधता के आधार 1915 ई० के समझौते थे जो चीन के युद्ध में प्रवेश करने से समाप्त हो चुके थे। 1915 ई० की सन्धि को अवैध करार देने के लिए चीनी प्रतिनिधि दल ने तर्क दिया कि एक तो युद्ध की धमकी देकर ही इस पर चीनी प्रतिनिधियों से हस्ताक्षर कराए गए थे और दूसरे इस सन्धि का चीनी संविधान में वर्णित प्रक्रिया द्वारा अनुमोदन ही नहीं किया गया था।

उधर जापान भी अपना दावा प्रस्तुत करने के लिए तैयार था। जापान की माँगें संक्षेप में इस प्रकार थीं—वह चाहता था कि उत्तरी प्रशान्त महासागर में तथा शान्तुंग प्रान्त में जर्मनी के कब्जे में जो भूमि थी और उसके जो भी अधिकार थे, वे सब उत्तराधिकार के रूप में जापान को मिलने की बात शान्ति सन्धि में शामिल कर दी जाए। इस माँग की पुष्टि में उसने एक तो महायुद्ध में अपने धन-जन की क्षति का हवाला दिया और दूसरे विभिन्न मित्रराष्ट्रों से हुए तत्सम्बन्धी समझौतों को पहली बार औपचारिक रूप से खुलेआम पेश कर दिया।

उसने यह वादा भी किया कि जर्मनी से मिलने के बाद वह क्याऊ चाऊ को कुछ शर्तों के अधीन समझौते के बाद चीन को वापस कर देगा।

सम्मेलन के निर्णय—चीन के प्रतिनिधियों ने इस माँग का विरोध किया और कहा कि किसी भी मूल्य पर चीन इस व्यवस्था को नहीं मानेगा। उधर जापान ने दृढ़तापूर्वक शान्तुंग की माँग की तथा उसके न मिलने पर सम्मेलन से हट जाने की धमकी दी। सम्मेलन को भंग होने से बचाने के लिए एक ही उपाय मालूम देता था कि जापान की माँगों को स्वीकार कर लिया जाए। अतएव, पेरिस के शान्ति सम्मेलन में चीन से सम्बद्ध निम्नलिखित निर्णय किए गए—

1. चीन को जो रकम जर्मनी को पर्व सन्धियों के अनुसार हर्जाने के रूप में देनी थी, उसे रद्द कर दिया गया।
2. 1898 ई० में जर्मनी ने चीन के तीन्तसिन और हैंको में जिन विशेषाधिकारों को प्राप्त किया था, उन्हें भी समाप्त कर दिया गया।
3. युद्ध के समय चीन ने अपनी सीमा में स्थित जर्मनी और आस्ट्रिया की सम्पत्ति पर कब्जा कर लिया था। उस पर चीन का अधिकार स्वीकार किया गया। लेकिन, दूतावासों की सम्पत्ति पर चीन का अधिकार नहीं रहा।
4. शान्तुंग में जर्मनी को जो-जो अधिकार प्राप्त थे, उन्हें जापान को हस्तान्तरित कर दिया गया और क्याऊ चाऊ पर भी जापान का अधिकार स्वीकार किया गया।

चीन की प्रतिक्रिया—चीन को विवश होकर इस सन्धि को उस समय स्वीकार करना पड़ा। लेकिन, चीनी जनता ने इस सन्धि को मानने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। 4 मई, 1919 को कई हजार चीनी विद्यार्थियों ने पिकिंग में विशाल प्रदर्शन किया। अन्तरराष्ट्रीय न्याय और आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग करते हुए वे विदेशी दूतावासों के क्षेत्र में घुस गए। उनके एक दल ने यातायात मंत्री, त्साओ रू-लिन, जिसने सितम्बर, 1918 में जापान से सन्धि की बातचीत की थी और चांग त्सु-शिआंग, जो जापान में चीन का दूत था, के मकानों को घेर लिया। त्सांओ तो किसी तरह भाग निकला, लेकिन चांग को उन्होंने बुरी तरह घायल कर दिया। अगले दिन उसकी मृत्यु हो गई। इस पर सरकार ने बत्तीस विद्यार्थियों को मृत्यु दण्ड दिया और सभी सार्वजनिक जलसों पर पाबन्दी लगा दी। इसके विरोध में राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के सभी छात्रों ने आम हड़ताल कर दी। कई अन्य शहरों में उनकी सहानुभूति में जबरदस्त प्रदर्शन हुए। हर तरफ से तारों का ताँता बँध गया। माँग की गई कि छात्रों को रिहा कर दिया जाए। 7 मई को, जब सन्धियों को मानने का दिन आया, तो लोगों ने बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय अपमान-दिवस मनाया। उसी दिन टोकियो में चीनी छात्रों ने प्रदर्शन किया और कई हजार घुड़सवार पुलिस से सख्त मुकाबला किया, जिससे कई व्यक्ति मारे गए। आखिर में सरकार को जनता की माँग के सामने झुकना पड़ा। लेकिन, वह राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के अध्यापकों और छात्रों से बेहद नाराज हो गई। उसने कुलपति त्साई युआन-फेक और अन्य अध्यापकों पर इस्तीफा देने के लिए दबाव देना शुरू किया। 20 मई को पिकिंग के विद्यार्थी संघ ने आम हड़ताल की घोषणा कर दी, जो चीन के सभी नगरों में फैल गई। जून में दक्षिण के शहर भी हड़तालों की लपेट में आ गए। विद्यार्थियों की माँग थी कि सरकार के तीन वरिष्ठ अधिकारियों को गद्दार घोषित किया जाए और चीन प्रतिनिधि दल को वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर न करने का आदेश दिया जाए। अन्त में, सरकार को झुकना पड़ा। उसने उन विद्यार्थियों को छोड़ दिया जो कैद किए गए थे और उन तीन अधिकारियों को इस्तीफा देने को कहा गया, जिन पर गद्दारी का इल्जाम था। इस पर कुछ शान्ति हुई, लेकिन जापान विरोधी आन्दोलन चलता रहा।

चीन के विभिन्न नगरों में होनेवाली इन घटनाओं का प्रभाव पेरिस में चीनी प्रतिनिधि दल पर भी पड़ा। चीनी प्रतिनिधियों ने पहले तो यह कहा कि शान्ति सन्धि पर वे शान्तुंग प्रान्त से सम्बद्ध धारा का विरोध करते हुए हस्ताक्षर करेंगे, पर जब उन्हें शर्त लगाकर सन्धि पर दस्तखत करने की अनुमति नहीं मिली तो उन्होंने पर सन्धि पर दस्तखत करने से इनकार कर दिया। उनका कहना था कि शान्तुंग पूरी तरह और बिना किसी शर्त के चीन को वापस कर दिया जाए। इस प्रश्न पर बाद में वाशिंगटन-सम्मेलन में ही फैसला हो सका।

विश्वयुद्ध से चीन को लाभ—शान्ति सम्मेलन के निर्णयों से निराश होकर चीन ने जर्मनी के साथ एक पृथक सन्धि (20 मई, 1921 को) कर ली। इस सन्धि के द्वारा जर्मनी ने शान्तुंग और क्याऊ चाऊ पर से अपने सारे दावे उठा लिए तथा चीनी बन्दरगाहों पर उसे जो विशेषाधिकार मिले थे, वे भी समाप्त

कर दिए गए। समानता के स्तर पर दोनों देशों के बीच सम्बन्ध-स्थापना की बात भी मान ली गई। चीन के अन्दर जर्मनी को किसी प्रकार का राज्यक्षेत्रातीत अधिकार (extra-territorial right) नहीं रहा। इससे पूर्व रूस की बोल्शेविक सरकार स्वेच्छा से अपने सारे अधिकारों के परित्याग की घोषणा कर चुकी थी। कम-से-कम यूरोप के दो देशों के साथ चीन का सम्बन्ध समानता के स्तर पर कायम हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध से चीन को यह एक भारी लाभ प्राप्त हुआ।

विश्वयुद्ध का एक और महत्त्वपूर्ण प्रभाव चीन पर पड़ा। इसके फलस्वरूप चीन में जापानी और अमेरिकी साम्राज्यवाद में टक्कर हो गई। युद्धकाल में चीन ने जापान से बहुत बड़ी रकम कर्ज के रूप में ली थी। सामन्ती शासकों ने जापान से कर्ज लेकर अपनी-अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाई और अपने-अपने क्षेत्र में जापान को कई विशेष रियायतें दीं। इस प्रकार कर्ज के नाम पर चीन में जापान का प्रभाव जिस तरह बढ़ रहा था, उससे अमेरिकी प्रशासन बहुत चिन्तित हुआ। उसने इस प्रभाव को रोकने के लिए एक ऐसा कदम उठाया, जिससे जापान और अमेरिका में मनमुटाव पैदा हुआ।

नवम्बर, 1917 में अमेरिकी प्रशासन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि चीन पर किसी एक देश का आर्थिक प्रभुत्व होने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि चीन को आर्थिक सहायता देने के लिए कोई अन्तरराष्ट्रीय संस्था बने। अतएव, अमेरिकी विदेश विभाग ने जर्मनी और रूस को छोड़कर शेष राष्ट्रों से ऐसा संगठन बनाने के सम्बन्ध में बातचीत शुरू की। संगठन कायम भी हो गया। इसका उद्देश्य था कि चीन की सरकार को आर्थिक सहायता देने तथा चीन के उद्योगों तथा संचार-संवहन के विकास के लिए जो भी समझौते हों, उन सबको एक स्थान पर केन्द्रित कर लिया जाए। इस संगठन के कायम होने से चीन के विदेशी कर्ज की समस्या का समाधान हो गया। आयात-कर पहले ही पाँच प्रतिशत बढ़ा दिया गया था।

इस प्रकार, प्रथम विश्वयुद्ध से चीन को कई लाभ हुए। यद्यपि चीन ने मित्रराष्ट्रों तथा जर्मनी के बीच हुई वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया था और शान्तुंग के प्रश्न पर उसकी बहुत बड़ी पराजय हुई थी, फिर भी युद्ध में उसके जमा-खर्च, हानि-लाभ का खाता पूर्णतः प्रतिकूल हो, ऐसी बात नहीं थी। चीन की अपीलों के कारण विश्व के जनमत से उसे प्रचुर सहानुभूति प्राप्त हुई थी। पेरिस में वांग और वेलिंगटन कू की भूमिका ने चीन के अन्दर एक नया राष्ट्रीय स्वाभिमान जगा दिया था। इसके अतिरिक्त, युद्ध के कारण जर्मनी, आस्ट्रिया और हंगरी के साथ पहले हो चुकी असमान सन्धियाँ भी समाप्त हो गई थीं और इस प्रकार इन देशों से समानता के आधार पर नई सन्धियों के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया था। पाश्चात्य देशों ने सुविधाओं की जो अभेद्य दीवार चीन में खड़ी कर रखी थी, उसमें दरारें पैदा हो गईं और चीन अब एक नए युग में प्रवेश करने की तैयारी करने लगा था।

□□□

चीन में नवयुग

आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति, 1900-31

राजनीतिक पुनर्निर्माण—पाश्चात्य देशों से सम्पर्क स्थापना के पूर्व चीन अपनी ही दुनिया में मस्त रहने वाला देश था। चीनी लोग अपने देश को विश्व का केन्द्रस्थल मानते थे और उसके चारों ओर असभ्य और बर्बर देशों की परिधि की कल्पना करते थे। उनके मत में उनका देश सभ्यता का केन्द्र था और उसके चारों तरफ बर्बर देशों का वृत्त था। अतः, वे अपने देश को 'केन्द्रीय साम्राज्य' या 'मध्यम साम्राज्य' कहा करते थे। लेकिन, जब वे विदेशियों के सम्पर्क में आए और जब युद्ध में उनसे हारे तो एकाएक उनकी परिकल्पना को झटका लगा और उन्हें यह पता लगा कि सारी दुनिया उनके देश में ही सीमित नहीं। चीन के लिए पाश्चात्य सभ्यता से सम्पर्क का प्रभाव अत्यन्त विनाशकारी रहा, लेकिन साथ ही इसके कारण चीन को स्वयं एक नई सभ्यता मिली, जिसके फलस्वरूप उसके जीवन में आमूल परिवर्तन हुआ। पश्चिमी सभ्यता आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व करती थी और चीन की सभ्यता अत्यन्त प्राचीन थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जब चीन में आधुनिक और प्राचीन सभ्यताओं में टक्कर हुई तो चीन उसके समक्ष टिक नहीं सका। चीन के शासकों ने अपनी श्रेष्ठता की भावना से प्रेरित होकर ही पश्चिमी शक्तियों का मुकाबला किया, लेकिन इसमें वे बुरी तरह असफल रहे। उधर जापान ने दूसरी ही नीति अपनाई। जैसे ही वह पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आया, वह समझ गया कि पश्चिम का मुकाबला पश्चिम के अस्त्रों से ही सम्भव हो सकता है। अतएव, उसने तुरन्त पश्चिमीकरण की नीति अपनाई और कुछ ही दिनों में एक आधुनिक राज्य बन गया। 1894 ई० के चीन-जापान युद्ध के बाद चीन की आँखें खुलीं और वह भी समझ गया कि जब तक चीन में सुधार कर पश्चिमी सभ्यता के उपकरण नहीं अपनाए जाएँगे, तब तक चीन को दुर्दिन से छुटकारा नहीं मिल सकता। 1898 ई० तथा 1908 ई० में चीन की सरकार की ओर से सुधार के दो यत्न हुए, लेकिन वे सफल न हो सके। बाद में, चीन की क्रान्ति और कुओमिनतांग के उत्कर्ष से इस दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई। सम्पूर्ण बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यह क्रम चलता रहा, जिसके परिणामस्वरूप एक नवीन चीन का उदय हुआ। इस प्रक्रिया को 'चीनी पुनर्जागरण' नाम से अभिहित किया जाता है।

चीन में पाश्चात्य देशों का प्रवेश बिलकुल जबरदस्ती हुआ। इन देशों ने चीन को युद्ध में हराया और उसपर असमान सन्धियाँ लाद दीं। इन सन्धियों के फलस्वरूप चीन के कई बन्दरगाह 'सन्धि बन्दरगाह' कहलाने लगे, क्योंकि युद्ध में हराने के बाद चीन पर जो सन्धियाँ आरोपित की गईं, उनके अनुसार इन बन्दरगाहों पर विदेशियों का प्रभुत्व कायम हो गया। ऐसी जगहों पर विदेशी ताकतों को राज्यक्षेत्रातीत अधिकार मिला, जिसके अनुसार विदेशियों पर चीनी अधिकारियों का नियंत्रण नहीं रहा और चीन की चुंगी व्यवस्था, यातायात व्यवस्था आदि विदेशियों के हाथ चली गई। उन्हें चीनी कानूनों से भी मुक्ति मिल गई। इसके अतिरिक्त, चीन के कई प्रदेशों पर विदेशियों का प्रत्यक्ष कब्जा कायम हुआ। सब मिलाकर चीन की प्रभुसत्ता का नामोनिशान मिट गया, यद्यपि वह अपने कई पड़ोसी देशों की तरह प्रत्यक्षतः किसी यूरोपीय राज्य का उपनिवेश नहीं बना।

कुछ दिनों के पश्चात इसी पश्चात्य सम्पर्क ने चीन में विरोधी प्रवृत्तियों का सृजन किया तथा देश में क्रान्तिकारी भावना का विकास हुआ। विदेशियों के बलात प्रवेश के कुछ ही दिनों उपरान्त ताइपिंग-विद्रोह हुआ और 1900 ई० में बॉक्सर का विद्रोह हुआ। यद्यपि ये दोनों विद्रोह कुचल दिए गए, लेकिन विद्रोह की भावना नहीं दबाई जा सकी और 1911 ई० में इसका भीषण विस्फोट हुआ, जिसने मंचू राजवंश के शासन का ही अन्त कर दिया। तुरन्त ही चीन में गणराज्य की स्थापना हुई और चीन के युवक राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति की भावना से प्रेरित होने लगे। प्रथम विश्वयुद्ध के काल तथा उसके तुरन्त बाद चीनी राष्ट्रीयता में अभूतपूर्व विकास हुआ और धीरे-धीरे विदेशी प्रभावक्षेत्र और राज्यक्षेत्रातीत अधिकारों की जड़ें कटने लगीं। इसमें सोवियत रूस की बोल्शेविक क्रांति से उसे बड़ी मदद मिली। 1930 ई० आते-आते चीन को

कई क्षेत्रों में स्वतंत्रता मिल गई और कम-से-कम औपचारिक रूप से उसे असमान सन्धियों से छुटकारा मिल गया। 1931 ई० में चीन में एक नया संविधान बना और वहाँ की शासन-व्यवस्था का नए ढंग से निर्माण हुआ। इस प्रकार 1931 ई० तक चीन ने एक नई राजनीतिक व्यवस्था स्थापित कर ली, जिससे नवीन चीन का उदय हुआ।

इसी काल में चीन में कम्युनिस्ट आन्दोलन का जन्म और विकास हुआ। यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात थी, क्योंकि अन्ततः चीन में एक कम्युनिस्ट राज्य की स्थापना हुई।

विदेशी व्यापार—राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद चीन ने आर्थिक क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति की। 1842 ई० के प्रथम अफीम युद्ध द्वारा चीन के पाँच बन्दरगाह विदेशी व्यापारियों के लिए खुले और उसके बाद समय-समय पर और भी बन्दरगाह खुलते गए। 1931 ई० तक चीन में ऐसे बन्दरगाहों की संख्या 69 तक पहुँच गई और ग्यारह स्थान ऐसे थे जो विदेशियों के रहने के लिए खुल गए। इन बन्दरगाहों के खुलने से चीन का व्यापार बढ़ने लगा। 1900 ई० में चीन में विदेशों से आए हुए माल की कीमत इक्कीस करोड़ दस लाख तैल थी और 1910 ई० के अन्त में आयातित माल की कीमत बढ़कर छियालीस करोड़ तीस लाख तैल हो गई। इसी प्रकार, चीन में निर्यातित माल का मूल्य 1900 ई० में पंद्रह करोड़ नब्बे लाख तैल से बढ़कर 1910 ई० में अड़तीस करोड़ दस लाख तैल तक पहुँच गया। 1910 ई० के बाद चीन का विदेशी व्यापार और भी बढ़ा। 1939 ई० में कुल आयात 1,309,755,742 तैल का और निर्यात 498,843,594 तैल का हुआ। इस प्रकार तीस वर्ष के अन्दर विदेशी व्यापार के मूल्य में साढ़े तीन सौ प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई।

व्यापारिक वस्तुओं में चीन में अफीम का आयात बहुत बड़े पैमाने पर होता था। 1882 ई० में चौंतीस प्रतिशत व्यापार अफीम से ही सम्बद्ध था। 1911 ई० में इसका कुल आयात केवल ग्यारह प्रतिशत रह गया। 1906 ई० में सुधार-कार्यक्रम के अन्तर्गत चीन ने निश्चय किया कि 1917 ई० तक अफीम के धूम्रपान का अन्त कर दिया जाए। उसी समय इंगलैण्ड के साथ भारत से अफीम का आयात कम करने के लिए समझौते का प्रयास किया गया। 1911 ई० में भारत और चीन के बीच एक समझौता हुआ, जिसमें 1917 ई० तक भारत से चीन को अफीम-निर्यात और चीन में अफीम के उत्पादन का पूर्ण अन्त करने का प्रावधान था।

इस काल में सूती कपड़े का व्यापार भी बढ़ा। 1902 ई० में चीन में सूती कपड़ो का आयात बहत्तर प्रतिशत था। साथ-ही-साथ मिट्टी तथा तेल के सामान भी अब चीन में आने लगे। 1930 ई० के आते-आते सूती कपड़ों की मात्रा सभी आयात माल की ग्यारह प्रतिशत के लगभग रह गया; क्योंकि गणतंत्र की स्थापना के बाद चीन में सूती कपड़ों के कई कारखाने खुल गए थे। इन कारखानों को चलाने के लिए सरकार ने विदेशों से अच्छी रूई मँगानी शुरू की।

आयातित होनेवाली वस्तुओं में मशीन की संख्या सबसे अधिक थी। 1900 ई० के शुरू में आयातित होनेवाली मशीनों की संख्या नब्बे लाख से बढ़कर सात सौ अस्सी लाख के मूल्य की हो गई थी। किरासन तेल और दियासलाई का प्रयोग चीन में बहुत बड़े पैमाने पर होने लगा। लोगों के जीवन में अन्य परिवर्तन कागज के आयात में चार गुना वृद्धि से—जो अधिकतर समाचारपत्रों की संख्या में वृद्धि के कारण थी—मोटरकारों के आरम्भ से और फोटोग्राफी, छपाई तथा लिथो की सामग्री, टेलीफोन और तार तथा वैज्ञानिक उपकरणों के आयात से दिखाई दिया। इन सूचियों को देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चीन के लोग भौतिक दृष्टिकोण से अपने रहन-सहन का तरीका धीरे-धीरे बदलने लगे थे।

चीन ने जिस प्रकार विदेशों से आयात किया, उसी प्रकार अपनी वस्तुओं का निर्यात भी किया। चीन से चाय, रेशमी कपड़े, सोयाबीन, तिलहन, गलीचे आदि सामानों का निर्यात होता था। 1882 ई० में अड़तालीस प्रतिशत चाय चीन से बाहर जाती थी। लेकिन, भारतीय चाय के कारण यह निर्यात घट गया और 1930 ई० में तीन प्रतिशत ही रह गया। इसी प्रकार, रेशम का निर्यात भी कम हो गया, क्योंकि चीनी रेशम की तुलना में फ्रांस और इटली में अच्छा रेशम निकल गया।

कृषि के क्षेत्र में परिवर्तन—चीन एक कृषिप्रधान देश था, लेकिन पश्चिमी देशों के सम्पर्क में आने के बावजूद वहाँ पुराने तरीकों से ही खेती होती रही। प्रारम्भिक हल—जो गधों और बैलों द्वारा खींचा जाता था—का उपयोग होता रहा और फसल काटने तथा साफ करने की पुरानी प्रारम्भिक विधियाँ ही उपयोग में लाई जाती रहीं। बाद में कृषि के क्षेत्र में धीरे-धीरे सुधार होने लगा। सरकार ने अच्छे बीजों और खाद का प्रबन्ध किया। पहले यातायात के साधन विकसित नहीं थे। इसलिए चीन के कृषक अपनी आवश्यकताओं

की चीजें ही उत्पन्न करते थे। पर, जैसे-जैसे सड़कों और रेलमार्गों का निर्माण होता गया, वैसे-वैसे जमीन के अनुसार ही फसलें उगाई जाने लगीं । चिहली तथा कियांग्सी प्रान्तों में कपास की खेती अधिक मात्रा में होने लगी। अब लम्बे रेशे की अमेरिकी रूई की पैदावार चीन में शुरू हुई। नानकिंग के कृषि विश्वविद्यालय ने रूई के नस्ल में सुधार के कई यत्न किए। इसी प्रकार मंचूरिया में सोयाबीन तथा युन्नान में चावल की पैदावार बढ़ाई गई। चाय की किस्म अच्छी बनाने का यत्न किया गया। रेशम के कीड़ों की नस्ल में भी सुधार किया गया। चीन में कृषि की शिक्षा के लिए अनेक संस्थान खोले गए।

व्यवसाय की तरक्की—बीसवीं सदी के शुरू में चीन में कई बैंक और व्यावसायिक कम्पनियों की स्थापना हुई। कल-कारखानों के विकास से समाज में एक नए मजदूरवर्ग की उत्पत्ति हुई, जो पूँजीवादी शोषण का शिकार होने लगा। अतएव, चीन में मजदूरों का संगठन बनने लगा। 1919 ई० में शंघाई में चीन के मजदूरों ने इस तरह का पहला संगठन बनाया। बाद में इस संगठन की कई शाखाएँ चीन के कई नगरों में स्थापित हुईं। मजदूर संघ ने मजदूरी की दर में वृद्धि और कार्य के घण्टे कम करने के लिए आन्दोलन शुरू किया। उनकी हड़तालों का ताँता लग गया। सितम्बर-दिसम्बर, 1922 के भीतर ही चीन में लगभग चालीस हड़तालें हुईं। इन हड़तालों में चीन के कम्युनिस्टों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इस हालत में चीन की कुओमिनतांग सरकार ने मजदूरों की दशा में सुधार के लिए कुछ यत्न किए। कानून बनाकर कार्य के घण्टे निश्चित किए गए तथा मजदूरों और मालिकों का सम्मिलित संगठन कायम किया गया, ताकि वे अपना झगड़ा आपस में बातचीत द्वारा तय कर सकें। मजदूरों की दशा में सुधार के लिए उनके लिए आवास की व्यवस्था की गई। 1929 ई० में ट्रेड यूनियन ऐक्ट बना, जिसके अनुसार चीन के मजदूरों को कई अधिकारों की मान्यता मिली। लेकिन, इन कार्यवाहियों के बावजूद चीनी मजदूरों की दशा में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ और वे पूँजीवादी शोषण के शिकार बने रहे।

सामाजिक क्षेत्र में परिवर्तन—पाश्चात्य सम्पर्क और देश के औद्योगिकीकरण के कारण चीन की सामाजिक व्यवस्था में भी महान परिवर्तन आया। विदेशियों से सम्पर्क कायम होने के पूर्व चीन का समाज अपने प्राचीन नियमों तथा रीति-रिवाजों के अनुसार चलता था। समाज का संगठन कन्फ्यूशियस के सिद्धान्त पर आधृत था। लोग पितरों की पूजा करते थे और पीढ़ी-दर-पीढ़ी परिवार के लोग एक ही जगह निवास करते थे। लेकिन, जब चीन में ईसाई मिशनरियों का आगमन हुआ और बाद में देश का जब औद्योगिकीकरण हुआ तो पारिवारिक संगठन पर गहरा आघात पहुँचा। रेलों और सड़कों के विकास से लोग इधर-उधर जाने लगे। परिवार के सदस्य आजीविका, नौकरी, व्यवसाय आदि के लिए चीन के दूसरे प्रान्तों और विदेशों में भी जाने लगे। बहुत-से चीनी लोगों को दूसरे शहर में जाकर रहना पड़ा, जिससे पारिवारिक जीवन का बन्धन ढीला पड़ने लगा। अब पितरों की पूजा के लिए अवकाश नहीं रहा। अतएव, उनका महत्त्व घटने लगा। अब कारखानों में कार्य करने के लिए लाखों की संख्या में मजदूर देहातों से आकर शहरों में निवास करने लगे। इस प्रकार, व्यक्तिगत परिवार-प्रथा का विकास हुआ और नई पीढ़ी के लोग वृद्धों के शासन से मुक्त हो गए। इस प्रकार, कुलमर्यादा नाम की कोई चीज नहीं रह गई। परिवारों की छोटी इकाइयाँ कायम हुईं और चीनी नवयुवक अपना शादी-ब्याह अब स्वयं तय करने लगे। इसी काल में स्त्री-शिक्षा का भी विकास हुआ और चीनी महिलाएँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए शिक्षण संस्थाओं में जाने लगीं। बहुत-सी महिलाएँ विदेश भी अध्ययन के लिए गईं। 1911 ई० की क्रान्ति के बाद इस संख्या में बड़ी वृद्धि हुई। वे चिकित्सा, अध्यापन, पत्रकारिता आदि पेशे अपनाकर स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने लगीं। सहशिक्षा के विकास के कारण उनमें आत्मगौरव की भावना आई और पुरुषों के स्तर पर वे समानता का दावा करने लगीं। शाही-ब्याह के मामले में उनमें भी स्वतंत्रता की भावना का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त, चीनी युवकों पर पाश्चात्य वेशभूषा का भी प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य खेलकूद, फुटबॉल, टेनिस आदि बहुत लोकप्रिय हो गए। नाटक का स्थान सिनेमा ने ले लिया। सिनेमा चित्र, जो कि पूर्णतः नवीन पद्धति के थे, सन्धिपत्र द्वारा व्यापार के लिए खोले गए बन्दरगाहों पर आरम्भ हुए और कुछ सीमा तक उनके बाहर भी। 1919 ई० के बाद चीनी प्रोड्यूसर-कम्पनी बन गई और स्वदेशी उत्पादन अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। सिनेमा चित्रों ने पश्चिमी सभ्यता के भौतिकवादी पहलुओं को निगाहों के सामने और स्थानापन्न तौर पर चीनियों के अनुभव में आने के लिए आश्चर्यजनक अवसर प्रदान किया। कला और स्थापत्य पर भी पश्चिम का प्रभाव पड़ा। मंचू-शासन के समाप्त होने पर चीनियों ने चोटी रखना बन्द कर दिया और पश्चिमी ढंग से बाल काटने लगे। इस प्रकार, सामाजिक जीवन के कई क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ, जिस पर पश्चिमी सभ्यता की छाप स्पष्ट थी।

सांस्कृतिक परिवर्तन—आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में परिवर्तनों के साथ-साथ चीन के सांस्कृतिक

जीवन में भी परिवर्तन आया। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध चीन में राजनीतिक उथल-पुथल का युग था, फिर भी इस काल में सांस्कृतिक क्षेत्र में कई उल्लेखनीय परिवर्तन हुए और चीन में एक अभूतपूर्व बौद्धिक जागरण हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन से यह सम्भव हो सका।

1905 ई० में पुरानी परीक्षा पद्धति की समाप्ति कर दी गई, जिससे कन्फ्यूशियस के विचार लगभग समाप्त हो गए। इससे मध्ययुगीन पद्धति के विद्वान पदाधिकारी वर्ग की पुरानी व्यवस्था पर गम्भीर आघात हुआ। परीक्षा पद्धति में नए विषयों के आरम्भ से आधुनिक विषयों में शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक हो गया। इसलिए शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन हुआ। नई शिक्षा पद्धति ने मानवीय और ऐतिहासिक विषयों पर से जोर हटाकर वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा पर जोर देना आरम्भ किया। शिक्षा प्राप्त करने के लिए सैकड़ों की संख्या में चीनी नवयुवक विदेश जाने लगे। लेकिन, देश के भीतर भी नई पद्धति से शिक्षा प्रदान करने के लिए कई विश्वविद्यालय कायम किए गए। अनेक चीनी पुस्तकों का अनुवाद पाश्चात्य भाषाओं में और पाश्चात्य पुस्तकों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ। पाश्चात्य शिक्षा ने चीनी लोगों को बहुत प्रभावित किया और अब वे रूढ़िवादी नहीं रहे तथा वे चीनी समस्याओं पर नवीन दृष्टिकोण से विचार करने लगे। यह वर्ग देशप्रेम और राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत हो गया। इसी भावना के कारण चीनी छात्रों ने राजनीतिक आन्दोलनों में प्रमुख भाग लिया। पेरिस की शान्ति सन्धि ने जब शान्तुंग पर जापानी अधिकार मान लिया तो छात्रों में बड़ी खलबली मची और उन्होंने कई दिनों तक लगातार इसके विरोध में प्रदर्शन किए। इसी तरह कुओमिनतांग के उत्कर्ष और चीन में साम्यवादी विचारधारा के प्रसार में चीनी छात्रों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

सांस्कृतिक उत्थान में प्रेस का भी महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा। चीन में पहले विदेशी भाषाओं में ही समाचारपत्र प्रकाशित होते थे, जिन्होंने चीन या अन्यत्र होनेवाली घटनाओं की चर्चा करने का उपयोगी कार्य किया। लेकिन, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से चीनी भाषाओं में भी समाचारपत्र प्रकाशित होने लगे। 1931 ई० के आते-आते चीन के प्रायः सभी प्रमुख नगरों से समाचारपत्र निकलने लगे। यातायात के साधनों में सुधार से प्रमुख समाचारपत्रों की बिक्री का क्षेत्र विस्तृत हो गया और उनके लिए स्थानीय समाचार अधिक प्रकाशित करना सम्भव हो गया। इनमें से कई समाचारपत्र मुख्यतः प्रचारात्मक पत्र थे। कुछ को विदेशों से आर्थिक सहायता मिलती थी और कुछ व्यक्तियों अथवा गुटों के पत्र थे। परन्तु, उन सबने चर्चाओं में उत्तेजना लाने और विदेशों से सम्बन्ध एवं घरेलू राजनीति तथा समस्याओं के बारे में विचार उकसाने का काम किया। समाचार-पत्रों के अतिरिक्त, बाद की प्रगति के रूप में महिला-पत्रिकाओं से लेकर सहित्यिक और वैज्ञानिक पत्रिकाओं तक कई पत्र-पत्रिकाएँ पैदा हो गईं। 'चीनी सामाजिक और राजनीतिक विज्ञान का सिंहावलोकन' विद्वतापूर्ण पत्रिकाओं का अच्छा उदाहरण था, अन्य पत्रिकाएँ—जो नए विचारों की अभिव्यक्ति में विशेष रूप से संलग्न थीं—'न्यू यूथ' जिसकी स्थापना पिकिंग विश्वविद्यालय के डीन ने की थी, 'वीकली रिव्यू' भी इसी विश्वविद्यालय का एक प्रकाशन था जिसका विषय मुख्यतः राजनीतिक था, 'न्यू टाइड' (जिसे बाद में 'दी रेनाशाँ' कहा गया) का प्रकाशन पिकिंग विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा प्रेरित था। स्कूलों ने भी अपने प्रकाशन प्रारम्भ किए जिनमें कहानियाँ, नाटक, निबन्ध और सामाजिक रुचि के गम्भीर लेख प्रकाशित होते थे।

चीनी नवजागरण की अभिव्यक्ति 'साहित्यिक क्रान्ति' के रूप में भी हुई। इसका औपचारिक उद्घाटन अमेरिका में प्रशिक्षित विद्वान तथा पिकिंग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ० हुशिह ने किया ।1917 ई० में उसने केवल बोलचाल की भाषा में लिखने तथा विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में पुरानी साहित्यिक भाषा के पूर्ण परित्याग के अपने इरादे की घोषणा की। इससे एक निश्चित चीनी लेखन शैली का विकास हुआ तथा प्राचीन पाण्डित्यपूर्ण शैली लुप्त हो गई। इससे चीन को एक नई राष्ट्रभाषा प्राप्त हुई। शीघ्र ही इस भाषा में नई पुस्तकों, पत्र एवं पत्रिकाओं का सृजन होने लगा। 1920 ई० में सरकार की ओर से एक आदेश निकला और कहा गया कि स्कूलों की प्रारम्भिक शिक्षा प्राचीन भाषा में न होकर प्रचलित चीनी भाषा में हो। भाषा के इस परिवर्तन से अनेक लाभ हुए। नए साहित्य लिखे जाने लगे, भाषा में सरलता आई, अशिक्षा का अन्त शुरू हुआ और तर्क तथा बुद्धि का युग आया। जेम्स चेन ने एक 'नेशनल पोपुलर एजुकेशन' नामक संस्था की स्थापना की जिसने जनसाधारण में शिक्षा के प्रचार का आन्दोलन प्रारम्भ किया। लगभग तेरह सौ चरित्रों को आधार बनाकर इस संस्था ने लोगों को शिक्षा देने का कार्य प्रारम्भ किया। सरल भाषा के कारण लोग शिक्षा के प्रति जागरूक होने लगे और साधारण लोग भी पत्र लिखना, हिसाब-किताब रखना तथा समाचारपत्र पढ़ना जान गए।

धार्मिक परिवर्तन—चीन में कुल मिलाकर पाँच धर्म प्रचलित थे— कन्फ्यूशियस का धर्म, ताओवाद

बौद्धधर्म, इस्लाम तथा ईसाइयत। इनमें कन्फ्यूशियस के समर्थकों की संख्या सबसे अधिक थी। ताओवाद अन्धविश्वासों को प्रश्रय देता था। अतः, इससे लोगों का विश्वास घटता जा रहा था। बौद्धधर्म का चीन पर काफी प्रभाव था और इसके मठ तथा केन्द्र चीन के कोने-कोने में फैले हुए थे। सिकियांग तथा मंगोलिया के कुछ लोग इस्लामधर्म मानते थे। धर्मप्रचारकों ने चीन में ईसाई धर्म का प्रचार किया था और कुछ ही वर्षों में इस धर्म के माननेवालों की संख्या बढ़ गई थी । ईसाई मिशनरियों ने शिक्षा की व्यवस्था की तथा अस्पताल खोले। चीन की जनता पर इसका अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ा।

1920 ई० के उपरान्त चीन में एकता कायम करने का प्रबल प्रयास हुआ। किन्तु, इस युग में विचारों और विश्वासों में भी एकता लाने की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। सब धार्मिक मत और सम्प्रदाय समन्वय की ओर अग्रसर होने लगे। 1910 ई० में बौद्धों ने एक राष्ट्रीय बौद्ध संगठन बनाया था। एक युवक भिक्षु थाई श्यु ने सुधारवादी कार्यक्रम चालू किया और बौद्धों को सामाजिक सेवा करने तथा वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा दी। ताशिंग फाफांग चीहुआन आदि अनेक सुधारक इस नव-बौद्धधर्म में शामिल हो गए। इन बौद्धों का दृष्टिकोण राष्ट्रीय था। इन्होंने 1937 ई० में अपने जापानी सहधर्मियों से अपील की कि वे अपनी सरकार को चीन पर हमला करने से रोकें। युद्ध के दिनों में इन्होंने महत्त्वपूर्ण सेवा-कार्य किया। 1921 ई० में उत्तरी चीन में ताओ ते शे (सन्मार्ग और सद्धर्म का समाज) की स्थापना हुई। इसके पूजागृह पर कन्फ्यूशियस, लाओत्से और बुद्ध के नाम और ईसाईयत तथा इस्लाम के निशान अंकित थे। इन्की शिक्षाएँ विश्वभ्रातृत्व और मनुष्य की एकता पर आधृत थीं। बौद्धों का 'श्वेत कमल दल' भी कई शाखाओं में बँट गया। इनमें से एक का नाम ई-कुआन-तासो था। इसका विश्वास था कि एक अद्वैत तत्त्व सब वस्तुओं का मूल है और सब जगह व्याप्त है। अतः, सब धर्म मनुष्यों की मुक्ति के मार्ग हैं। इस प्रकार, चीन में धार्मिक कट्टरता कम हो रही थी और धार्मिक समन्वय का भाव प्रबल हो रहा था।

इस प्रकार, 1900 ई० तथा 1931 ई० के बीच के काल में चीन में सर्वतोमुखी विकास हो रहा था। नए चीन का निर्माण इसी विकास के आधार पर हुआ।

□□□

अध्याय 6

जापान में मेईजी पुनःस्थापना

जापान में पाश्चात्य सम्पर्क की प्रतिक्रिया—उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पूर्वी एशिया के दो देशों—चीन और जापान—को एक ही तरह की स्थिति का सामना करना पड़ रहा था। दोनों पर पश्चिम का दबाव पड़ रहा था और दोनों ही देश पश्चिमी देशों के साथ ऐसी सन्धियों में बँध गए थे, जो विदेशियों के अधिक अनुकूल थीं। जापान और चीन दोनों का भविष्य इस बात पर आश्रित था कि पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं की लड़ाई का अन्तिम फल क्या होगा। इस संघर्ष का जवाब दोनों देशों ने पृथक-पृथक रूप से दिया। जहाँ 'स्वर्गिक साम्राज्य' ने इसका उत्तर देने के लिए पीछे की ओर देखा, वहाँ 'उगते हुए सूर्य के देश' ने आगे की ओर देखा। यही कारण था कि चीन पश्चिमी सभ्यता से पराजित हो गया, पर जापान को उसके समक्ष झुकना नहीं पड़ा।

विदेशियों के आगमन और उनके दबाव की जापान में विविध प्रतिक्रियाएँ हुईं। यह सत्य है कि जापान में भी पुरातनपन्थियों और रूढ़िवादियों का अभाव न था और उन्होंने पश्चिम के साथ बढ़ते हुए सम्पर्क का विरोध किया, लेकिन उनकी आवाज कारगर नहीं हुई। इसी समय वहाँ एक दूसरी विचारधारा भी प्रकट हुई जिसने 'प्राच्य नैतिकता और पाश्चात्य विज्ञान के समन्वय' पर जोर दिया और पश्चिम का मुकाबला करने के लिए उसी के साधन अपनाने पर बल दिया। यह वर्ग जापान की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन चाहता था। इसका ख्याल था कि जापान के लोगों को पश्चिमी देशों की भाषाएँ सीखनी चाहिए, उनके ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए तथा उनकी सभ्यता की सभी नवीन और अच्छी बातें तुरन्त अपनानी चाहिए। ये पश्चिमी विज्ञान और युद्धविद्या अपनाने के प्रबल समर्थक थे।

इस समय जापानियों का तीसरा दल भी था। जिसका मूलमंत्र जापान का पूर्ण पश्चिमीकरण और आधुनिकता था। वे पाश्चात्य जीवनशैली को पूरी तरह अपनाना चाहते थे। इस विचारधारा के माननेवालों का कहना था कि जापान में अपने-आपको समय के अनुकूल ढालने और पश्चिमी जगत के बराबर आ जाने की विलक्षण क्षमता है। वे जापान को विरोधाभास की स्थिति में रखने के प्रबल विरोधी थे और उनका ख्याल था कि पुरानी रूढ़ियों से चिपटे रहने और साथ-साथ नई संस्कृति को अपनाए रहने से जापान को कोई लाभ न होगा। जापान को दो में से किसी एक मार्ग को ही चुनना है।

पश्चिमी जगत से सम्पर्कस्थापन के उपरान्त जापान में इसी विचारधारा की विजय हुई। 1868 ई० की मेईजी पुनःस्थापना इसी प्रवृत्ति का परिणाम थी।

शोगून शासन का विरोध—यूरोपीय दबाव के समय जापान में एक विचित्र प्रकार की राज्य-व्यवस्था थी। मिकाडो या सम्राट् राज्य का अध्यक्ष होता था। लेकिन, वह नाममात्र का शासक था। वह क्योटो में एकान्तवास में रहता था और उसे एक ऐसी पवित्र आत्मा के समान समझा जाता था जो संसार के प्रति विरक्त हो। वास्तविक शासक शोगून था जिसे 'येदो का शोगून' कहा जाता था। माना तो यह जाता था कि शोगून मिकाडो का अभिकर्ता मात्र था, किन्तु वस्तुतः उसने राज्य की सब शक्तियों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। 1853 ई० में जब जापान का द्वारा खुला तो सभी विदेशी शोगून के साथ ही सन्धियाँ कर रहे थे। इस समय शोगून का पद तोकूगावा के सामन्तों के हाथ था। जापान में अन्य परिवारों के सामन्त भी थे, जो शक्तिशाली थे। इसलिए, यद्यपि येदो का शोगून मिकाडो के नाम पर सारा राज्यकार्य चला रहा था, फिर भी वह अन्य सामन्ती वंशों को पूर्णरूपेण अपने वश में न ला सका। वस्तुतः, अन्य शक्तिशाली सामन्त तोकूगावा लोगों से घृणा करते थे और उन्हें अपदस्थ करने की ताक में रहते थे।

जापान में यूरोपीयों के प्रवेश से इन विरोधी सामन्तों को तोकूगावा शोगून को अपदस्थ करने का एक सुनहरा अवसर मिला। पश्चिमी विदेशियों के आगमन पर से रोक हट जाने और उन्हें सन्धियों द्वारा सुविधाएँ

प्राप्त हो जाने के फलस्वरूप जापान में विदेशियों के विरुद्ध लहर उठी और प्रतिक्रियास्वरूप हिंसक उपद्रव भी होने लगे। चूँकि सारे जापान में असन्तोष था और सामन्तशाही कमजोर हो रही थी, अतः पश्चिम-विरोधी आन्दोलन जोर पकड़ गया। स्वयं सामन्ती वंशों में भी आपस में विद्वेष था। इस कारण विदेशी-विरोधी आन्दोलन राजनीतिक आन्दोलन के रूप में परिणत हो गया जिसका उद्देश्य यह बन गया कि किसी भी प्रकार शोगून को सत्तच्युत किया जाए और सम्राट् मिकाडो को सारी सत्ता सौंप दी जाए।

मेईजी पुनःस्थापना की पृष्ठभूमि

तत्कालीन व्यवस्था के प्रति असन्तोष—जिस समय पश्चिमी राज्यों ने जापान का दरवाजा थपथपाया, उस समय जापानी समाज में कई तरह के असन्तोष व्याप्त थे। जापान के अन्य सभी सामन्ती घराने तोकूगावा शोगून के खिलाफ हो गए थे। बड़े-बड़े सामन्तों पर अपना नियन्त्रण कायम रखने के लिए शोगून ने कई तरह के इन्तजाम किए थे जिससे उन्हें अपार कष्ट पहुँचता था। 'सान्किन कोताई' कानून के अनुसार सामन्तों को किले बनाने, उनकी मरम्मत कराने, लड़ाकू जहाज बनाने, सिक्का ढालने और शोगून के इजाजत के बिना शादी-विवाह करने की मनाही थी। उन्हें हर दो साल पर चार महीने के लिए शोगून की राजधानी येदो में हाजिर रहना पड़ता था। जब वे येदो से अपनी रियासत में वापस जाते तो उन्हें अपने बीबी-बच्चों को बन्धक के रूप में वहीं छोड़ देना पड़ता था। इससे हर सामन्त को राजधानी में ही अपना घरबार रखना पड़ता था जो आर्थिक दृष्टि से भारस्वरूप था।

राज्य के ऊँचे-ऊँचे पदों की नियुक्ति में भी शोगून बड़ा पक्षपात करता था। तोकूगावा परिवार के लोगों तक ही इन पदों को सीमित रखा जाता था और अन्य सामन्तों को इनसे अलग रखा जाता था। शोगून की इस भेदनीति से चोशू, सातसूमा और तोसा कुटुम्ब के सामन्त बड़े नाराज थे और उससे पीछा छुड़ाना चाहते थे। यह मनमुटाव समय के साथ-साथ बढ़ता जा रहा था।

शोगून शासन के अन्तर्गत अन्य घरानों के सामन्तों को आर्थिक दृष्टिकोण से बड़ा दबाया गया जिससे उनकी आर्थिक स्थिति दिनोंदिन खराब होती गई। उन्हें मजबूर होकर अपने खर्च में कटौती करनी पड़ी और सामूराई सैनिकों को हटाना पड़ा। इससे सामूराइयों में असन्तोष पैदा हुआ। वे चोरी-डकैती करने लगे जिससे समाज में अव्यवस्था फैली। सामूराई अपनी स्थिति से एकदम असंतुष्ट थे और प्रचलित व्यवस्था—अर्थात तोकूगावा शोगून के प्रभुत्व—में परिवर्तन चाहते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में जापान के व्यापार में पर्याप्त उन्नति हुई और एक नवीन व्यापारिक वर्ग का उदय हुआ जो समाज का एक अत्यन्त सम्पन्न वर्ग हो गया। सामन्तों को अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए इन व्यापारियों से कर्ज लेना पड़ा। फिर भी समाज में व्यापारियों का स्थान सामन्तों के मुकाबले अत्यन्त निम्न था। सामन्ती वर्ग का उनके प्रति हीनता का भाव व्यापारियों को काफी अखरता था जिससे वे सामाजिक परिवर्तन के हामी थे।

जापान का किसानवर्ग भी अपनी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं था। सामन्ती व्यवस्था का सारा बोझ किसानों पर ही पड़ता था। वे करों के भार और शासन की सख्ती से पिसे जा रहे थे। लेकिन, धीरे-धीरे उनमें राजनीतिक जागरण आ रहा था और वे विद्रोह करने लगे थे। उनका यह विद्रोह शोगून-व्यवस्था के विरुद्ध होता था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जापानी समाज का प्रत्येक वर्ग तत्कालीन व्यवस्था के खिलाफ था और सबका मुख्य लक्ष्य शोगून-व्यवस्था का अन्त करना था। ऐसे ही समय में जापान में विदेशियों का प्रवेश हुआ जिसने स्थिति को एकदम बिगाड़ दिया।

सामन्तों द्वारा शोगून का विरोध—पश्चिमी लोगों के खतरे से निबटने के लिए जापान के अन्य सामन्तों ने शोगून-व्यवस्था का अन्त करना चाहा। उनका कहना था कि शोगून की कमजोरी और अदूरदर्शिता के कारण ही जापान की स्वतंत्रता और सम्प्रभुता खतरे में पड़ रही है। विदेशियों के प्रति शोगून शासन की नरम नीति को लेकर उन्होंने लोकमत को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया। उन्हें लगा कि इस बहाने शोगून के चंगुल से निकला जा सकता है। किन्तु, सामन्तों के बीच आपस में मेल नहीं था। अतएव, उन्हें सम्राट् को अपनी गतिविधि का केन्द्र बनाना पड़ा। उन्होंने 'बर्बरों' को निकालो, शोगून को हटाओ तथा सम्राट् की शक्ति बढ़ाओ' का नारा बुलन्द किया। उसका वास्तविक उद्देश्य सम्राट् की आड़ में अपनी शक्ति बढ़ाना तथा अपने ऊपर शोगून शासन द्वारा लगाई गई पाबन्दियाँ दूर करना था।

विदेशी-विरोधी भावना में वृद्धि—इस बीच जापान में विदेशियों के खिलाफ भावना तीव्र होती रही। सामन्तों ने इस विरोधी भावना को खूब भड़काया। सम्राट् कोमेई भी विदेशियों के विरुद्ध हो गया था। चोशू के सामन्तों के प्रभाव में आकर उसने शोगून को आदेश दिया कि 25 जून, 1863 तक सभी विदेशियों को देश से बाहर निकालने की व्यवस्था की जाए। किन्तु, शोगून शासन के अधिकारी समझते थे कि यह कार्य अब सम्भव नहीं है। लेकिन, चोशू लोगों का विचार ठीक इसके विपरीत था। उनका ख्याल था कि विदेशियों को सरलतापूर्वक जापान से खदेड़ा जा सकता है और उन्होंने स्वयं इसका बीड़ा उठाया। चोशू कुल के सामन्तों का प्रभाव तथा शासन शिमोनोसेकी के जलडमरूमध्य के आसपास के क्षेत्रों पर था जहाँ विदेशियों के जहाज आते-जाते रहते थे। चोशू सामन्त ने अपने राजकर्मचारियों को यह आज्ञा दे दी कि यदि कोई जहाज शिमोनोसेकी के जलडमरूमध्य से गुजरे तो उसे गोलाबारी करके क्षत-विक्षतं कर दिया जाए और विदेशियों को हानि पहुचाई जाए। 25 जून, 1863 को एक अमरीकी जहाज जलडमरूमध्य से गुजरा। इस जहाज पर गोलाबारी कर इसे नष्ट कर दिया गया। जवाब में अमरीकी युद्धपोत ने भी 16 जुलाई को जापानी किलों पर वार किया और दो युद्धपोत डुबो दिए। इस कार्य में फ्रांस और हालैंड ने अमरीकियों का साथ दिया और जापानी किलों को भारी नुकसान पहुँचाया। शोगून ने स्थिति सँभालने की चेष्टा की, लेकिन उग्रवादियों के समक्ष उसकी कुछ भी न चली।

14 सितम्बर, 1862 को विदेशी-विरोधी एक दूसरी घटना घट गई। उस दिन सातसूमा के सामन्त का एक जुलूस निकला। जापान में यह नियम प्रचलित था कि जब कोई सामन्त या उसका जुलूस सड़कों से गुजरता था तब लोग उसे रास्ता दे देते थे और रास्ते से हटकर सम्मान प्रकट करते थे। सातसूमा सामन्त की यात्रा के समय रिचर्डसन नामक एक अँगरेज अपने तीन घुड़सवार साथियों के साथ जा रहा था। वह जुलूस के सामने पड़ गया, लेकिन उसने सम्मान दिखलाने के लिए रास्ता नहीं छोड़ा। इसे सातसूमा सामन्त ने अपना अपमान समझा। इस पर कुछ सामूराई गुस्से में लाल होकर उन पर बरस पड़े और रिचर्डसन की हत्या कर दी। ब्रिटिश सरकार ने इसके लिए शोगून से एक लाख पौण्ड का हर्जाना माँगा और सातसूमा को भी हर्जाना देने को कहा। सात अँगरेजी जहाज हर्जाना वसूल करने सातसूमा की राजधानी कागोशीमा पहुँचे। उन्होंने नगर पर गोलाबारी की और एक जापानी जहाज डुबो दिया। इस घटना से जापान में विदेशियों के खिलाफ बड़ी घृणा पैदा हो गई।

चोशू और शोगून में संघर्ष—चोशू और सातसूमा सामन्तों को विदेशियों के समक्ष नीचा देखना पड़ा था। अब वे अपनी कमजोरी महसूस करने लगे। उन्होंने सैनिक सुधार करने का निश्चय किया और चोशू सामूराई तथा सामान्य जनता की मिली-जुली स्थायी सेना संगठित की। यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, क्योंकि इससे पहले सैनिक कार्य पर सामूराई सामन्तों का एकाधिकार था और सामान्य जनता को सेना के संगठन में फटकने तक नहीं दिया जाता था। अब सामन्त और सामान्य जनता एक ही स्तर पर आ गए। यह सामन्तशाही के अन्त का पूर्वसूचक सिद्ध हुआ।

विदेशियों के प्रति चोशू लोगों की उत्तेजनात्मक नीति से शोगून को बड़ा गुस्सा आया और सैनिक कार्यवाही कर उसने उनका (चोशुओं का) दमन करने का निश्चय किया। शोगून ने उनके विरुद्ध एक विशाल सेना भेजी और चोशू सामन्त बुरी तरह कुचल दिए गए। लेकिन, इसी समय सातसूमा लोगों ने इसका विरोध किया। वे नहीं चाहते थे कि चोशुओं को बिलकुल खत्म कर दिया जाए। इसलिए, शोगून को अपने कड़े रुख में परिवर्तन करना पड़ा, लेकिन चोशू से उसने यह वादा करा लिया कि वह मिलेजुले नए फौजी दस्ते को भंग कर देगा। पर, अब इन फौजी दस्तों ने हथियार डालने से इनकार कर दिया। जनवरी, 1865 में उन्होंने कई दफ्तरों पर कब्जा कर लिया और 12 मार्च को रियासत की राजधानी को अपने अधिकार में ले लिया। चोशू में क्रान्ति का बिगुल बज गया।

इस पर शोगून शासन ने चोशू पर पुनः हमला कर दिया। किन्तु, शोगून की कार्यवाही का समर्थन किसी दूसरे सामन्त ने न किया। शोगून पर विदेशियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। अतः, सबने शोगून का विरोध किया। युद्ध में इस बार चोशू की सेना ने शोगून को बुरी तरह पराजित कर दिया।

इस घटना के बाद चोशू और सातसूमा एक-दूसरे के बहुत निकट आ गए। 7 मार्च, 1866 को उनके बीच एक गुप्त सन्धि हुई जिसके द्वारा शोगून शासन का अन्त करने का निश्चय किया गया।

शोगून शासन का अन्त और मेईजी पुनःस्थापना—जनवरी, 1867 में तोकूगावा केईकी शोगून बना। वह प्रगतिशील विचारों का था और सबके साथ मिलजुलकर काम करना चाहता था। उसने प्रशासनिक

सैनिक-व्यवस्था में कई सुधार किए। शोगून को सम्भलते देखकर चोशू और सातसूमा के नेताओं ने उसे जल्दी से बलपूर्वक हटाने का निश्चय किया। फरवरी, 1867 में सम्राट् कोमेई का देहान्त हो गया और उसकी जगह मूतसुहीतो गद्दी पर बैठा। नए सम्राट् की उम्र उस समय केवल पन्द्रह वर्ष की थी। अतः, उस पर शोगूनविरोधी सरदारों ने तुरन्त अपना प्रभाव कायम कर लिया। 3 जनवरी, 1868 को सातसूमा और चोशू की फौजों ने शाही महल पर अधिकार कर सम्राट् की शक्ति की पुनःस्थापना की घोषणा कर दी। सम्राट् ने 'मेईजी' (शानदार) उपनाम धारण कर लिया। इस घटना को 'मेईजी ईशीन' (मेईजी पुनःस्थापना) कहते हैं। इससे आगामी युग का नाम भी 'मेईजी काल' पड़ा।

तोकूगावा केईकी एक दूरदर्शी व्यक्ति था, अतः उसने इस परिवर्तन को मान लेने का निश्चय किया और राजधानी को शान्तिपूर्वक छोड़ दिया। लेकिन, अन्य तोकूगावा सामन्त इसके लिए राजी नहीं हुए। उन्होंने युद्ध करने का निश्चय किया। लेकिन, शाही फौज के सामने वे नहीं टिक सके और बुरी तरह पराजित हुए। शाही फौज येदो की ओर बढ़ी। केईकी ने समर्पण करने का फैसला किया और सम्राट् के पास अपना त्यागपत्र भेज दिया। कुछ तोकूगावा सामन्त अब भी इस परिवर्तन का विरोध करते रहे। लेकिन, उनकी एक न चली। उन्हें पूरी तरह कुचल दिया गया और सारे देश पर सम्राट् का एकछत्र शासन कायम हो गया। सदियों से चला आ रहा शोगून शासन समाप्त हो गया।

नया विधान—शोगून शासन के अन्त होने पर एक नई शासन-व्यवस्था की आवश्यकता पड़ी। अप्रैल, 1868 की ओर से एक 'विधान शपथ' तैयार किया गया जिसमें निम्नलिखित पाँच धाराएँ थीं—

1. राज्य के मामलों पर विचार करने के लिए विस्तृत पैमाने पर सभाएँ स्थापित की जाएँगी और सब सरकारी कार्यों का निर्णय जनमत के आधार पर होगा।
2. ऊँचे और नीचे सब वर्ग राज्य की योजना को सशक्त रूप से कार्यान्वित करने के लिए आपस में एक हो जाएँगे।
3. जनता के सभी वर्गों को अपनी-अपनी न्यायोचित आकांक्षाओं को पूरा करने का अवसर मिलेगा जिससे कहीं कोई असन्तोष न रहे।
4. पहले युगों की असभ्य प्रथाएँ तोड़ी जाएँगी और हर बात प्रकृति के न्यायसंगत और औचित्यपूर्ण सिद्धान्तों पर निर्भर होगी।
5. समस्त जगत से ज्ञान प्राप्त किया जाएगा जिससे साम्राज्य के कल्याण की श्रीवृद्धि हो।
7. अप्रैल, 1868 को सभी सामन्तों और दरबारियों ने इसका समर्थन किया और शपथ लेकर इस पर अपनी मोहरें लगाईं।

शासन चलाने के लिए सम्राट् ने कुछ परामर्शदाता नियुक्त किए। ये सब-के-सब नौजवान थे और नए जोश के साथ काम करने पर दृढ़ थे। इन्होंने तेजी से पश्चिमी विद्या, संस्कृति और जीवन-पद्धति अपनाने का संकल्प किया। इन व्यक्तियों के निर्देशन में एक केन्द्रीय संगठन का निर्माण किया गया। इसमें सर्वोच्च शासक, सर्वोच्च सभा, सहकारी सभा और सात विभागों की योजना थी। सभाओं में डैम्यो और सामूराइयों को रखा गया। राज्यसभा को तीन सदनों में बाँटा गया। सा-ईन (वाम सदन), यू-ईन (दक्षिण सदन) और नेई-ईन (मध्य सदन) जो क्रमशः कानून बनाने, मन्त्रालयों को चलाने और आम देखभाल का काम करते थे। किन्तु, सारी सत्ता सम्राट् और उच्च सामन्ती वर्ग के लोगों के हाथ थी। आगे चलकर इस व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष भी चला। लेकिन, 1868 ई० में मेईजी पुनःस्थापना का कार्य सम्पन्न हो गया।

मेईजी पुनःस्थापना का महत्व

जापान के इतिहास में मेईजी पुनःस्थापना का विशेष महत्त्व है। आधुनिक जापान के निर्माण का बीजारोपण मेईजी पुनःस्थापना से ही शुरू होता है। इस काल में अनेक ऐसे कार्य हुए जिनके कारण जापान के राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में कई तरह के परिवर्तन आए। जापान से सामन्त प्रथा का उन्मूलन हो गया। जापान में सामन्तवाद का इतिहास बहुत पुराना था। इसके फलस्वरूप जापान की उन्नति रुक गई थी। लेकिन, सामन्तवाद के अन्त होते ही उन्नति का रास्ता भी खुल गया।

पुनःस्थापना ने जापान को विदेशी साम्राज्यवाद के चंगुल में फँसने से बचा लिया। पुनःस्थापना के कारण जापान में अपूर्व राष्ट्रीयता का विकास हुआ। इसके कारण जापान के लोग शुरू से ही विदेशियों के इरादे के विरुद्ध सतर्क हो गए और उन्होंने देश को पराधीनता से बचा लिया।

पुनःस्थापना के फलस्वरूप जापान में साम्राज्यवादी भावना का विकास हुआ। जापान की आन्तरिक दशा में कई ऐसे परिवर्तन हुए, जिनसे वहाँ का शासन अत्यन्त दृढ़ और कुशल हो गया। जापान का औद्योगिकीकरण बड़ी तेजी से हुआ और जापान के सैन्यबल में अपार वृद्धि हुई। कुछ ही दिनों में वह अत्यन्त शक्तिशाली देश बन गया। इस शक्ति के आधार पर उसने साम्राज्य-विस्तार की नीति अपनाई और देखते-देखते वह भी एक साम्राज्यवादी देश के रूप में परिवर्तित हो गया।

पुनःस्थापना के कारण जापान का शासन व्यवस्थित हुआ। अब शासन चलाने के लिए एक संसद की स्थापना हुई और नया संविधान भी बना। नागरिकों को कई तरह के अधिकार प्रदान किए गए। जापान की सेना भी नए ढंग से संगठित की गई। इस दृष्टिकोण से भी पुनःस्थापना को बहुत अधिक महत्त्व दिया जा सकता है।

पुनःस्थापना ने जापान की प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। विदेशियों से सम्पर्क कायम हुआ और जापानियों ने पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति का अनुशीलन कर विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति करना आरम्भ किया। जापान को पश्चिमी देशों के बराबर बनना था, इसलिए जापान में बड़ी तेजी के साथ कल-कारखानों का विकास हुआ, नए-नए वैज्ञानिक हथियार बने, उच्च शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था हुई तथा पाश्चात्य ढंग पर नई सेना का संगठन हुआ। इन सारी बातों ने जापान को एशिया का सबसे महान देश बना दिया। जापान का पूर्ण कायाकल्प हुआ और पुनःस्थापना ने राष्ट्र के रूप में उसे एक नया जन्म दिया।

□□□

राजनीतिक चेतना का विकास—नए जगत के प्रति जापान के अत्यधिक उत्साह पर स्वभावतः पश्चिम के राजनीतिक दर्शन, विशेष रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के व्यापक उदारवाद का प्रभाव पड़ा। यह प्रश्न खड़ा हो गया कि अपनी मेईजी-राजप्रतिष्ठा की नींव पर जापान शासन का कौन-सा ढाँचा और दर्शन खड़ा करेगा। उसके नए शिक्षा कार्यक्रम ने पहले ही संकेत कर दिया था कि नया शासन राष्ट्रवादी और विशिष्ट जापानी अर्थों में केन्द्रीभूत होगा। अब प्रश्न यह था कि क्या वह शासन लोकप्रिय संविधान, जनाधिकारपत्र, व्यापक मताधिकार, राजनीतिक दल और पश्चिम के लोकतन्त्रीय देशों के प्रभावशाली औद्योगिक और मध्यम वर्गों की धारणा के अनुसार आर्थिक व्यक्तिवाद के आधार पर लोकतंत्री भी होगा। नई परिस्थिति में शासन के क्षेत्र में सुधार करना भी आवश्यक था। 1868 ई॰ में ही सम्राट् की ओर से एक घोषणा प्रकाशित हुई थी जिसमें शासन सम्बन्धी नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था। इस घोषणा में एक संसद की स्थापना का उल्लेख किया गया था। कहा गया था कि राज्य की नीति का निर्धारण यही सभा करेगी और इसमें जापान के अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व होगा। न्याय के क्षेत्र में सभी नागरिकों को समान स्तर पर रखा जाएगा। लेकिन, शासन-सुधार के कुछ विरोधी भी थे जो किसी तरह का परिवर्तन नहीं चाहते थे।

इसी समय जापान में कुछ प्रगतिशील विचारक पैदा हुए, जिन्होंने शासन में सुधार के लिए आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन का एक नेता था ईतागाकी ताईसूके। 1874 ई॰ में उसने सम्राट् से अनुरोध किया कि 1868 ई॰ की घोषणा के अनुसार जापान में संसद की स्थापना की जाए जो जापान के लोकमत का वास्तविक प्रतिनिधित्व करे। इस माँग को राष्ट्रीय रूप देने के लिए 1875 ई॰ में 'आईकोकूशा' (देशभक्तों का समाज) नामक एक संगठन बनाया गया। बाद में इसका नाम 'कोक्काई कीसेई दोमेई' (राष्ट्रीय संसद स्थापना दल) रखा गया। इस आन्दोलन को 'जीयू मीनकेन ऊन्दो' (जनतंत्रीय आन्दोलन) भी कहते हैं। इसके पीछे देहात के जमींदार, व्यापारी और उद्योगपति थे और इसे कुछ किसानों और मजदूरों का भी समर्थन प्राप्त था। सम्राट् ने इस आन्दोलन से प्रभावित होकर कुछ सुधार करना स्वीकार कर लिया और कुछ सुधार किए गए जिनके अनुसार जापान में पहली बार एक सीनेट और एक प्रधान केन्द्रीय न्यायालय की स्थापना की गई। 1878 ई॰ में जापान में स्थानीय स्वशासन का सूत्रपात किया गया और इसके लिए कई संस्थाएँ स्थापित की गईं। 1878 ई॰ में प्रान्तों में पाँच येन या उससे ज्यादा लगान देनेवाले पुरूषों द्वारा चुनी हुई प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा कायम करने का निर्णय किया गया। इनका काम वित्तीय मामलों पर विचार करना था। किन्तु, गवर्नरों को विशेषाधिकार भी था और इस दृष्टिकोण से ये संस्थाएँ बेकार थीं। शहरों, कस्बों और देहातों में भी इस किस्म की प्रतिनिधि सभाएँ चालू की गईं। यह सब जनतंत्र की माँग करनेवालों के आँसू पोंछने के लिए किया गया।

राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव—इसी समय जापान में नए-नए राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव भी शुरू हुआ। जापान में ऐसे बहुत-से लोग थे जो इन सुधारों से संतुष्ट नहीं थे और जो जापान को पूरी तरह लोकतान्त्रिक देश बनाना चाहते थे। 1881 ई॰ में ईतागाकी ने अपने संगठन को 'छोजीयूतो' (उदारवादी दल) में बदल दिया। इसकी विचारधारा फ्रांसीसी उग्रवादी सिद्धान्त पर आधृत थी। इसका मूलमंत्र था—"स्वतंत्रता मनुष्य की प्राकृतिक दशा है।" इसमें जमींदार और छोटे व्यवसायी शामिल थे। इस उग्रवादिता का प्रतिरोध करने के लिए 15 मार्च, 1882 को काउण्ट ओकिमा सीगेनेबू ने 'रीक्केन काई शिन्तो' (सांविधानिक सुधार दल) बनाया। इसमें शहरों के व्यापारी और बुद्धिजीवी शामिल थे। उसी समय रूढ़िवादियों ने अपना 'रीक्केन तेईसेईतो' (सांविधानिक साम्राज्यशाही दल) बनाया, जो इन दोनों दलों का विरोधी था। इसमें मुख्यतः राजकर्मचारी और बुद्धिजीवी शामिल थे। यह दल सम्राट् की प्रभुसत्ता में विश्वास करता था। इन राजनीतिक दलों के प्रादुर्भाव से देश का राजनीतिक वातावरण गरम होने लगा। इसलिए सरकार ने दो तरह के कदम उठाए। उसने राजनीतिक दलों पर पाबन्दियाँ लगानी शुरू कीं, लेकिन साथ ही संविधान बनाने के काम को भी आगे बढ़ाया गया।

राजनीतिक दलों का नियंत्रण—राजनीतिक गतिविधियों में वृद्धि हुई और दिन-प्रतिदिन जुलूस निकलने लगे। अखबारों ने भी हल्ला मचाना शुरू किया। अतः, सरकार ने उन्हें नियंत्रित करने की आवश्यकता महसूस की। 1882 ई॰ में एक सरकारी अध्यादेश जारी किया गया जिसके द्वारा राजनीतिक दलों को अपने विधान, नियम, सदस्य-सूची आदि पुलिस में पंजीकृत कराने पर बाध्य किया गया। यदि उन्हें कोई सभा करनी होती तो उसकी सूचना पुलिस को तीन दिन पहले देनी होती थी। बिना पुलिस की इजाजत के कोई सभा नहीं हो सकती थी। उसका प्रज्ञापन कर जनता की भावनाएँ भड़काना अवैध था। अप्रैल, 1883 में विरोधी पत्रों, विशेष तौर से 'जीयतो' के पत्र 'जीयू' और 'काइशिन्तो' के पत्र 'यूबीन होची' पर कड़ी पाबन्दियाँ

लगाई गईं और एक साल के अन्दर उनचास अखबारों का प्रकाशन बन्द किया गया। इस पर भी 1887 ई० में बड़े-बड़े जुलूसों का ताँता बँधा रहा। इसे रोकने के लिए सरकार ने 25 दिसम्बर को एक सुरक्षा अधिनियम जारी किया, जिससे सरकार को किसी भी व्यक्ति पर शान्ति के लिए खतरा होने का आरोप लगाकर उसे टोकियो से निष्कासित करने का अधिकार मिल गया। कुछ ही दिनों में लगभग छह सौ व्यक्तियों को टोकियो से बाहर निकाल दिया गया।

मेईजी संविधान का निर्माण

राजनीतिक दलों की गतिविधियों से जापान का जीवन उत्तरोत्तर अशान्त होता जा रहा था। सरकार के लिए लोकमत पर ध्यान रखते हुए कुछ सांविधानिक सुधार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया था। अतएव, अक्टूबर, 1881 में एक घोषणा प्रकाशित कर यह वचन दिया गया कि 1890 ई० तक जापान के लिए संविधान बन जाएगा और इसके अनुसार एक राष्ट्रीय संसद का गठन किया जाएगा। इसके पश्चात संविधान निर्माण की तैयारी होने लगी। 3 मार्च, 1882 को ईतो हीरोबूमी को पश्चिमी देशों की राज्य पद्धतियों का अध्ययन करने के लिए यूरोप भेजा गया। ईतो ने बर्लिन में जाकर प्रसिद्ध विधिवेत्ताओं से परामर्श किया; फिर वह आस्ट्रिया की राजधानी वियना आया। वहाँ उसे यह सलाह प्राप्त हुई कि ऐसा संविधान बनाया जाना चाहिए, जिसमें मंत्रिपरिषद संसद की जगह सम्राट् के प्रति उत्तरदायी हो और सम्राट् को संसद के किसी फैसले को रद्द करने का पूरा अधिकार हो। वियना से ईतो पेरिस, लन्दन और रूस होते हुए जापान वापस लौटा। 1884 ई० में जापान लौटने पर संविधान बनाने का काम सौंपे जाने पर ईतो ने विदेश यात्रा के समय चुने तीन सुयोग्य सहकारियों इनीचे फोवाशी, ईतो मियोजी तथा कानेको केन्तारो को अपनी सहायता के लिए नियुक्त किया। ईतो की यह मण्डली सम्राट् के परिवार से सम्बद्ध कर दी गई, ताकि इसे उदारवादियों के राजनीतिक दबाव से दूर रखा जा सके। संविधान के प्रारूप तैयार होने पर प्रिवी कौंसिल ने उसे पुष्ट किया। सारा कार्य समाप्त होने पर 11 फरवरी, 1889 को नए संविधान की घोषणा की गई। इसे 'मेईजी संविधान' कहते हैं।

मेईजी संविधान की विशेषताएँ—मेईजी संविधान सामन्तवाद और पूँजीवाद का अनोखा मेल था। संविधान का स्वरूप उसके अन्तर्गत सम्राट् की स्थिति पर दृष्टि डालने से भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है। यह संविधान जनता के प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित नहीं था, वरन् 'सम्राट् की ओर से उपहार' था और इसलिए उसमें संशोधन करने का अधिकार केवल सम्राट् को था। इसके लिए जापानी संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक थी। संविधान की व्याख्या का अधिकार न्यायालयों को दिया गया था, परन्तु मतभेद होने पर उनके निबटारे का अधिकार प्रिवी कौंसिल को था। शाही महल साधारण नियमों और कानूनों से परे था। कानून बनाकर उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। वह परिषद के नियन्त्रण से बाहर था। इसमें प्रिवी कौंसिल तथा शाही परिवार की परिषद की ही सलाह से कोई संशोधन किया जा सकता था। सम्राट् के उत्तराधिकार का प्रश्न भी संविधान नहीं, बल्कि शाही महल का कानून तय करता था। इसके अतिरिक्त सम्राट् को कई तरह के सांविधानिक विशेषाधिकार प्राप्त थे। स्थल और जल की सेनाओं के सेनापति और उनके स्टाफ सीधे सम्राट् द्वारा नियुक्त होते थे। वे एकदम सम्राट् के अधीन थे। संक्षेप में, इस संविधान द्वारा लोकतंत्र का मखौल उड़ाया गया था।

संविधान द्वारा दो वैधानिक परामर्शदात्री समितियों का संगठन किया गया था। एक का नाम मंत्रिपरिषद और दूसरी का प्रिवी कौंसिल था। इन समितियों की स्थापना संविधान के लागू होने के पूर्व ही कर दी गई थी और संविधान की चौथी धारा में इसका उल्लेख किया गया था। मंत्रिपरिषद शासन के कार्यकारिणी सम्बन्धी कार्य करने के लिए निर्मित हुई। यह डाइट (जापानी संसद) के प्रति उत्तरदायी न रहकर सम्राट् के प्रति उत्तरदायी थी। इसका प्रधान प्रधानमंत्री कहलाता था। प्रिवी कौंसिल का निर्माण स्वयं सम्राट् करता था और इसका काम विभिन्न समस्याओं पर सम्राट् को परामर्श देना था। जापान के धनीमानी प्रभावशाली व्यक्ति इसके सदस्य होते थे। मंत्रिपरिषद के कुछ सदस्य भी इसके सदस्य हो सकते थे। सदस्यों और मंत्रियों की नियुक्ति सम्राट् स्वयं करता था और सम्राट् के प्रसादपर्यन्त ही वे अपने पदों पर बने रह सकते थे।

संविधान के तीसरे अध्याय में संसद (गिकाई) या डाइट की रचना का उल्लेख था। इस सभा में दो सदन कायम किए गए—उच्च सदन और निम्न सदन। उच्च सदन अमीर-उमरा का था। इसमें जापान के कुलीनवर्ग के लोग, राजकुल के व्यक्ति, प्रिन्स, काउण्ट, विस्काउण्ट, मार्क्विस और बैरन लॉर्ड, सम्राट् द्वारा

मनोनीत व्यक्ति तथा सर्वाधिक टैक्स देने वाले लोग सदस्य होते थे। निचले सदन में पंद्रह येन या इसके अधिक कर देनेवाले व्यक्तियों के—जिनकी संख्या 1890 ई० में 4,50,000, अर्थात कुल जनसंख्या का एक प्रतिशत भाग थी—निर्वाचित प्रतिनिधि थे। सब कानूनों की वैधता के लिए इस संसद की स्वीकृति आवश्यक थी।

डाइट का अधिवेशन हर वर्ष तीन महीने का होता था। इसके सदस्यों को बहस का अधिकार था। उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था। वे संसद में विचार के लिए विधेयक पेश कर सकते थे तथा सरकार से प्रश्न कर सकते थे। यद्यपि उनकी स्वीकृति के बिना कोई कानून नहीं बनाया जा सकता था, लेकिन उनके वित्तीय अधिकार बहुत सीमित थे। शाही घराने के खर्च और उसके कर्मचारियों के वेतन उनके अधिकार क्षेत्र से बाहर थे। यदि वे बजट पास न करें तो सरकार पिछले वर्ष के बजट को लागू रख सकती थी। सम्राट् को हर कानून के विषय में निषेधाधिकार प्राप्त था। साथ ही, वह किसी भी समय संसद के अधिवेशन को समाप्त और प्रतिनिधि सभा को भंग कर सकता था। जिन दिनों संसद का अधिवेशन नहीं चलता था, उन दिनों वह अध्यादेश भी जारी कर सकता था।

मेईजी संविधान की एक दूसरी विशेषता यह मानी जाती है कि इसने जनता को कुछ मूल अधिकार प्रदान किए। प्रत्येक नागरिक को भाषण करने, एकत्र होने, लिखने, संस्था बनाने और अपनी पसन्द का धर्म मानने की पूरी आजादी थी। लोग अपनी योग्यता के अनुसार सभी सरकारी पदों पर पहुँचने का समान अधिकार रखते थे। वे एक जगह से दूसरी जगह बेरोकटोक जा सकते थे और अपना घरबार बदल सकते थे। उनके घरों में कोई मनमाने ढंग से घुसकर तलाशी नहीं कर सकता था। उन्हें केवल कानूनी रीति से गिरफ्तार किया जा सकता था और नियमानुसार नियुक्त न्यायालय में मुकदमा चलाए बिना दण्ड नहीं दिया जा सकता था। उन्हें बुर्जुआ-पूँजीवादी व्यवस्था का सबसे बड़ा और अनुल्लंघ्य सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त था। वे सम्पति रख और बेच सकते थे। नागरिकों को सरकार को आवेदनपत्र देने का भी अधिकार दिया गया था।

इस प्रकार, मेईजी संविधान राजा के दैवी अधिकार, सामन्तवाद तथा पश्चिमी लोकतन्त्र के सिद्धान्तों तथा पुरानी रूढ़ियों और नई मान्यताओं का एक अपूर्व सम्मिश्रण था। इसके अध्ययन के सम्बन्ध में हमें दो-चार बातों पर हमेशा ध्यान रखना चाहिए—मताधिकार किसे मिला, पहले के सामन्तों का इस विधान के अन्तर्गत क्या स्थान रहा, जनसाधारण के प्रतिनिधियों को क्या अधिकार मिला, देश की राजनीति पर किस वर्ग का प्रभाव कायम हुआ तथा जापान में कितने लोगों को सम्पत्ति दी गई थी। इन्हीं बातों के पृष्ठाधार में मेईजी संविधान के स्वरूप को समझा जा सकता है।

न्याय और कानूनी व्यवस्था—पश्चिमी राष्ट्रों ने जापान से सन्धि-सम्बन्ध होने पर अपने प्रजाजनों को जापानी कानूनों के अन्तर्गत रखने पर आपत्ति की और राज्यक्षेत्रातीत अधिकार प्राप्त कर लिया, जैसा उन्होंने चीन के साथ किया था। पुनःस्थापना के बाद बनी सरकार ने अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता को कायम रखने के उद्देश्य से जल्दी ही यह महसूस कर लिया था कि राज्यक्षेत्रातीत अधिकारों की समाप्ति इस पर निर्भर है कि जापान कितनी तेजी से ऐसे कानूनी सिद्धान्त तैयार कर लेता है जो यूरोपीयों और अमरीकियों को स्वीकार्य हों। इसी के अनुसार 1873 ई० में एक दण्ड संहिता तथा फौजदारी कानून की रचना आरम्भ की गई। यह कार्य 1880 ई० में समाप्त हुआ और 1882 ई० में उसे स्वीकार कर लिया गया। इन कानूनों पर फ्रांसीसी कानूनों का गहरा प्रभाव था। एक दीवानी संहिता बनाने का काम 1870 ई० में आरम्भ हुआ और 1890 ई० में पूरा होने पर उसे स्वीकार कर लिया गया। इसी वर्ष राज्यक्षेत्रातीत अधिकार भी समाप्त कर दिए गए। दीवानी संहिता का आधार भी फ्रांसीसी कानून ही था, यद्यपि इसमें जर्मनी और कुछ अन्य देशों के कानूनों की भी कुछ बातें ली गई थीं। दीवानी मामलों के लिए कानून 1891 ई० से लागू था। जर्मन मूल से तैयार व्यापार संहिता भी दीवानी-संहिता के समान ही लागू की गई।

जापान के न्याय विभाग का संगठन भी नए सिरे से किया गया। छोटे और बड़े न्यायालयों का निर्माण करते हुए फ्रांस की न्याय पद्धति को आदर्श माना गया। 1889 ई० तक न्यायालय से सम्बद्ध नई व्यवस्था की रूपरेखा तैयार हो गई और 1894 ई० में सम्पूर्ण देश में इस पद्धति के अनुसार न्याय का प्रशासन चलने लगा।

जापान के कायाकल्प का परिणाम

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पुनःस्थापना के बाद जापान के जीवन के प्रत्येक पक्ष का कायापलट हुआ। खाने-पीने, रहने-सहने, ओढ़ने-पहनने, सोचने-विचारने तथा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक

जीवन की सारी क्रियाएँ आश्चर्यजनक तेजी के साथ बदलती गईं। जापान एक उन्नत, आधुनिक देश के रूप में संसार के रंगमंच पर आया।

जापान के कायाकल्प एवं आधुनिकीकरण का एक महत्त्वपूर्ण तात्कालिक परिणाम हुआ। जिस समय पाश्चात्य राज्यों ने जबरदस्ती जापान का दरवाजा खोला था, उस समय जापान को बाध्य होकर कई असमान सन्धियों पर हस्ताक्षर करने पड़े थे, जिसके फलस्वरूप जापान की प्रभुसत्ता सीमित हो गई थी। उद्योगिकीकरण के फलस्वरूप जापान अब एक शक्तिशाली राज्य बन गया था। वह किसी भी पाश्चात्य देश से कम नहीं था। ऐसी स्थिति में जापान ने अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों से अनुरोध किया कि वे असमान सन्धियों का अन्त कर उसके साथ समानता के स्तर पर दूसरी सन्धि करें। उसने राज्यक्षेत्रातीत अधिकार के अन्त करने की विशेष माँग की। पश्चिमी राज्य जापान की इन माँगों की अवहेलना नहीं कर सकते थे; क्योंकि अब वह काफी शक्तिशाली हो गया था। अतएव, उन सभी असमान सन्धियों में संशोधन किया गया और जापान में विदेशियों के सारे विशेषाधिकार समाप्त कर दिए गए। पाश्चात्य जीवन को अपना लेने के कारण जापान इस समय जिस तेजी के साथ राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में उन्नति कर रहा था उसके कारण वह पाश्चात्य देशों के पूर्णतया समकक्ष बन गया था और अब यह सम्भव नहीं रह गया था, कि उसके साथ वह व्यवहार किया जा सके जो कि चीन आदि अन्य एशियाई देशों के साथ किया जा सकता था।

कायाकल्प का एक दूसरा परिणाम जापानी साम्राज्यवाद का विकास था। इसने जापान के साम्राज्यवादी जीवन का पृष्ठाधार तैयार कर दिया। व्यावसायिक उन्नति और सैनिक शक्ति की दृष्टि से अब जापान पश्चिमी देशों के समकक्ष हो गया। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वह भी यूरोप और अमेरिका का अनुसरण कर साम्राज्यवाद के मार्ग पर अग्रसर हो। उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति के पूर्व ही जापान ने साम्राज्यवादी जीवन का प्रारम्भ कर दिया और बीसवीं शताब्दी में पूर्वी एशिया के इतिहास का मुख्य तत्त्व जापान का साम्राज्यवाद ही था।

□□□

इन सारी परिस्थितियों से प्रेरित होकर जापान ने साम्राज्यवादी [illegible]

जापान का प्रारम्भिक साम्राज्यवाद—मेईजी पुनःस्थापना के बाद जापान में यह माँग जगी कि जिन-जिन इलाकों में जापानी रहते हैं वे सब जापानी सम्राट के शासन के अन्तर्गत हों। जापान की दृष्टि चीन पर लगी हुई थी, जिसे पश्चिमी देशों की तरह वह भी अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाना चाहता था। 1872 ई० में जापान ने चीन को मजबूर किया कि वह जापान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करे। उसकी यह कार्यवाही ठीक उसी प्रकार की थी, जिस प्रकार की पहले पश्चिमी देशों ने की थी।

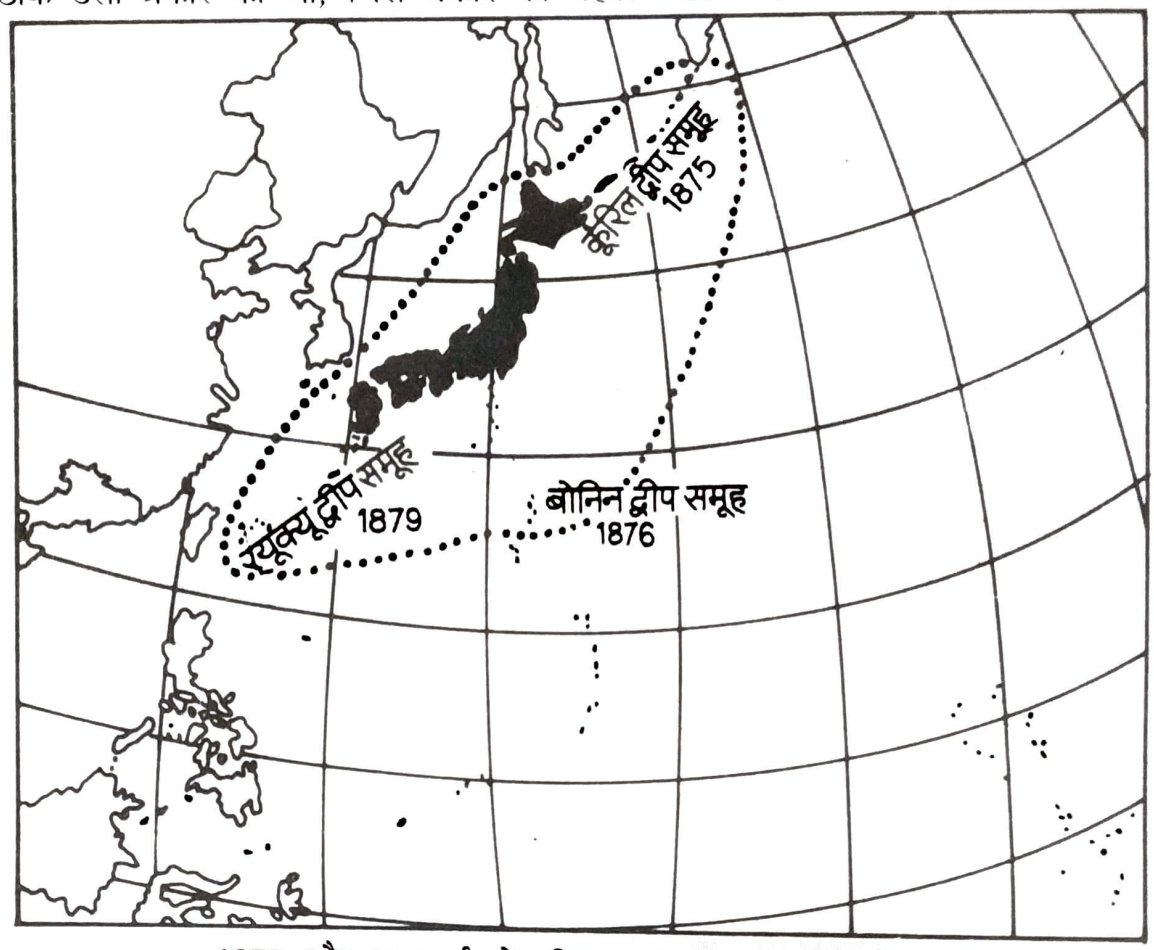

1873 और 1890 ई० के बीच जापान का साम्राज्यवादी प्रसार

[1873 से 1890 ई० का काल जापानी साम्राज्यवाद का प्रारम्भिक काल था। इस काल में जापान ने तीन द्वीपसमूहों पर अपना अधिकार कायम किया। 1875 ई० में कूरिल द्वीप, 1876 ई० में बोनिन द्वीप तथा 1879 ई० में रयूक्यू द्वीपसमूहों पर जापान ने अपना साम्राज्यवादी प्रसार कर लिया। यह जापान की साम्राज्यवाद का प्रारम्भ था।]

जापान के प्रसारवादियों को सर्वप्रथम 1871 ई० में साम्राज्यवाद की झलक पेश करने का अवसर मिला। प्रशान्त महासागर के एक द्वीप रयूक्यू में कुछ जापानी नागरिकों का निवास था। यह द्वीप चीन की सम्प्रभुता में रहता आया था। 1870 ई० में रयूक्यू के कुछ यात्री समुद्री यात्रा पर निकले। उनका जहाज फारमोसा के निकट दुर्घटनाग्रस्त हो गया और उन्हें जान बचाकर फारमोसा में शरण लेनी पड़ी। लेकिन, फारमोसा—जो चीन के ही संरक्षण में था—के लोगों ने इन नाविकों की हत्या कर दी। चीन को दबाने के लिए जापान को अच्छा अवसर मिल गया। जापान ने चीन की सरकार के समक्ष अपना विरोध प्रकट किया। जापान की सरकार ने यह कहा कि रयूक्यू के लोग जापानी हैं और चूँकि चीन के अधीनस्थ राज्य फारमोसा के निवासियों ने इन जापानियों की हत्या की है, इसलिए चीन की सरकार उन्हें दण्डित करे और जापान को इसका हर्जाना दे। चीन की सरकार ने जापान के इस दावे का विरोध किया और कहा कि रयूक्यू द्वीप से जापान का कोई सम्बन्ध नहीं है तथा उसने क्षतिपूर्ति देने से इनकार कर दिया। इस पर 1874 ई० में एक जंगी जहाज भेजकर जापान ने दक्षिण फारमोसा पर कब्जा कर लिया। चीन और जापान की भिड़न्त हुई, लेकिन चीन ने झुककर हर्जाना देना मान लिया। इससे जापानी फौज हट गई। इसी दौरान जापानी शासकों ने रयूक्यू के राजा को अपनी सत्ता मानने के लिए राजी कर लिया। 1879 ई० में वहाँ जापानी प्रान्तीय शासन लागू हुआ।

जापान के प्रसारवाद की यह शुरुआत थी। इसके पूर्व 1805 ई० के बाद जापान ने रूस से एक समझौता कर लिया तथा साखालिन द्वीप पर से अपना अधिकार हटा लिया। बदले में कूरिल द्वीप पर रूस ने जापान की प्रभुता स्वीकार कर ली। इसके पश्चात 1876 ई० में जापान ने पड़ोसी बोनिन द्वीप पर भी कब्जा कर लिया।

2. 1894-95 का चीन-जापान युद्ध / The Crisis of 1873

(SINO-JAPANESE WAR)

कोरिया की समस्या—जापान ने अपने साम्राज्यवाद का मुख्य लक्ष्य चीन को बनाया और सर्वप्रथम कोरिया में उसने चीन के साथ अपनी ताकत की आजमाइश की। कोरिया अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से जापान के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसलिए कोरिया प्रायद्वीप में जापान की रुचि बहुत दिनों से थी। सोलहवीं शताब्दी में कोरिया पर नियंत्रण करने के उद्देश्य से चीन और जापान में लम्बा युद्ध हो चुका था, जिसमें जापान पराजित हुआ था। लेकिन, अपनी सुरक्षा के लिए जापान यह नहीं चाहता था कि कोरिया पर किसी दूसरे राज्य का अधिकार बना रहे। यदि यह मान लिया जाए कि बेलजियम की स्वतंत्रता ब्रिटेन की सुरक्षा के लिए आवश्यक है तो फिर कोरिया की स्वतंत्रता जापान के लिए और भी आवश्यक हो जाती है। कम-से-कम जापानी लोग ऐसा ही समझते थे। उनका कहना था कि "यदि कोरिया पर शत्रुओं का अधिकार रहेगा तो उससे जापान को सदैव खतरा बना रहेगा।"

चीन के मंचू सम्राटों ने सत्रहवीं शताब्दी में कोरिया पर अधिकार कर लिया था और तभी से कोरिया चीन का अधीन प्रदेश माना जाता था। यद्यपि कोरिया का अपना पृथक राजा होता था, जो क्रियात्मक दृष्टि से स्वतंत्र राजा के समान अपने देश का शासन करता था, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोरिया का स्वतंत्र राजा चीन के सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार करता था। जब कोई नया राजा कोरिया के सिंहासन पर आरूढ़ होता था तो वह चीन के सम्राट् की अनुमति प्राप्त करता था। कोरिया की ओर से चीनी सम्राट् की सेवा में प्रतिवर्ष भेंट और उपहार भेजे जाते और विशिष्ट अवसरों पर कोरिया का राजा या उसका कोई प्रतिनिधि पिकिंग के राजदरबार में उपस्थित भी हुआ करता था। इस तरह कोरिया का राज्य चीन का एक संरक्षित राज्य जैसा था।

कोरिया में जापान का स्वार्थ—यद्यपि कोरिया पर चीन का संरक्षण था, लेकिन जापान इस प्रायद्वीप को अपनी सुरक्षा के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण मानता था। कोरिया प्रायद्वीप में जापान का परम्परागत स्वार्थ था। लेकिन, अभी तक जापान को इस स्वार्थ को पूरा करने का मौका नहीं मिला था। जापान में अब सैनिकवाद का जन्म हो चुका था। अतः, यह आवश्यक हो गया कि वह कोरिया के सम्बन्ध में उग्र नीति का अवलम्बन करे। इस समय कोरिया यूरोपीय राज्यों की साम्राज्यवादी नीति के भँवरजाल में फँस रहा था और जापान इन घटनाओं को दर्शक के रूप में नहीं देख सकता था। उस पर एक ऐसे राज्य का संरक्षण था, जिसके टुकड़े-टुकड़े हो चुके थे और जो स्वयं कई यूरोपीय राज्यों के संरक्षण में चला गया था। ऐसी स्थिति में कोरिया चीन के हाथ से निकलकर किसी भी यूरोपीय राज्य के कब्जे में चला जा सकता था। कोरिया में नवीन साम्राज्यवाद के अग्रदूत ईसाई धर्मप्रचारक प्रवेश कर चुके थे। इसलिए जपान की चिन्ता बढ़ी और उसने तय किया कि वह कोरिया को उसके भाग्य पर नहीं छोड़ सकता।

चूँकि चीन की नीति कोरिया में हस्तक्षेप करने की नहीं थी और चूँकि कोरिया में निरन्तर गड़बड़ी और राजनीतिक अस्थिरता बनी रहती थी, अतः यह जापान के लिए उपयुक्त बहाना था कि वह कोरिया में हस्तक्षेप करे, अन्यथा इस बात की नितान्त सम्भावना थी कि पश्चिमी शक्तियाँ कोरिया में हस्तक्षेप कर बैठतीं। पश्चिमी शक्तियों ने पहले से ही कोरिया के साथ सन्धियाँ कर रखी थीं; वे पहले भी वहाँ चीन के अधीनस्थ प्रदेशों पर अधिकार कर चुकी थीं। उन दिनों रूस का पूर्वी फैलाव तेजी पर था। उसने 1868 ई० में उसूरी नदी के पूर्व का इलाका हथियाकर कोरिया की उत्तरी सीमा के समीप ब्लाडीवोस्टोक का बन्दरगाह कायम किया। लेकिन, जाड़े के मौसम में यह बन्दरगाह बर्फ से घिरकर बन्द हो जाता था। इसलिए रूस दक्षिण की ओर ऐसा कोई खुला निकास चाहता था, जिससे बराबर प्रशान्त महासागर में आया-जाया जा सके। उसकी आँखें कोरिया पर थीं और कुछ समय के लिए उसने कोरिया पर अपना पैर जमा भी लिया था, यद्यपि पश्चिमी शक्तियों के द्वेष के कारण उसने अपना पैर कोरिया की छाती पर से हटा लिया था। जापान को भय लगा कि कहीं कोई यूरोपीय शक्ति कोरिया को अपने अधीन न कर ले। इसलिए जापानी कोरिया पर अधिकार जमाना आवश्यक मानते थे। साईगो ताकामोरी कोरिया पर हमला करने का बड़ा हामी थी, लेकिन कई

कारणों से कोरिया पर यह आक्रमण नहीं हुआ। किन्तु, उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में परिस्थिति एकदम बदल गई और जापान अब किसी हालत में चुपचाप तमाशा नहीं देख सकता था। एक जापानी राजनेता ने कहा था—"मैं यह निश्चयपूर्वक कहना चाहता हूँ कि हम कोरिया को उस समय तक नहीं छोड़ेंगे, जब तक हमारा उद्देश्य किसी-न-किसी प्रकार पूरा नहीं हो जाता। हम अपने भविष्य के लिए और अपनी स्वतंत्रता के लिए कोरिया में युद्ध कर रहे हैं। हमें भय है कि यदि कोरिया किसी यूरोपीय शक्ति के हाथ पड़ जाता है तो हमारी स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाएगी।"

कोरिया में जापान का प्रवेश—चीन और जापान के युद्ध के बीस वर्ष पूर्व से ही जापान ने कोरिया की राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था। कभी तो वह कोरिया की स्वतंत्रता का दम भरता, कभी वह कोरिया के सुधारवादी दल को उभारता, कभी वह कोरिया में चीन के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न करता, कभी वह कोरिया की सहायता करने का स्वाँग भरता और कभी वह कहता कि विदेशी आक्रमण के विरुद्ध उसे कोरिया को बचाना आवश्यक है, अन्यथा स्वयं उसकी स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी।

1875 ई० में जापान का एक जहाज कोरिया के समुद्रतट पर पहुँचा। कोरिया की सरकार ने इस जहाज पर गोलाबारी शुरू कर दी। इस कारण जापान में बड़ी बेचैनी फैली और उग्रवादी जापानी नेता कोरिया के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित करने की माँग करने लगे। लेकिन, उस समय जापान के अधिकारियों ने थोड़े संयम से काम लिया। कोरिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के बदले उन्होंने निश्चय किया कि जापान एक दूतमण्डल कोरिया भेजे, जो वहाँ की सरकार को जापान के साथ बकायदा व्यापारिक सन्धि करने के लिए प्रेरित करे। 1876 ई० में यह दूतमण्डल कोरिया की राजधानी पहुँचा और कोरिया जापान की धमकी से डरकर उसके साथ एक सन्धि करने पर विवश हुआ। कोरिया के कुछ बन्दरगाह जापान के व्यापार के लिए खोल दिए गए तथा जापान को कई व्यापारिक विशेषाधिकार प्राप्त हुए। जापान को कोरिया में राज्यक्षेत्रातीत अधिकार भी मिला और उसने कोरिया की स्वतंत्र सत्ता को मान्यता दे दी। यह चीनी सम्प्रभुता को चुनौती थी। पर, चीन ने इसका कोई विरोध नहीं किया। फलस्वरूप कोरिया में जापानियों के पैर जम गए।

कोरिया से जापान की सन्धि हो जाने पर अब दूसरे राज्य भी इस देश में सुविधा प्राप्त करने के लिए दौड़ पड़े। 1882 ई० में जापानी ढंग पर ही संयुक्त राज्य अमेरिका और कोरिया के मध्य एक सन्धि हुई। फिर, बाद में इसी नमूने पर ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस और इटली के साथ भी कोरिया को पृथक-पृथक सन्धियाँ करनी पड़ीं। चीन ने इन सन्धियों का कुछ भी विरोध नहीं किया और इस प्रकार कोरिया को चीन की अधीनता से मुक्त मान लिया गया।

कोरिया की हलचल—इस समय कोरिया में काफी गड़बड़ी थी। 1862-63 में इसके दक्षिणपूर्वी भाग में किसानों का भारी विद्रोह चला। कोरिया के तत्कालीन शासक बड़े अयोग्य और निकम्मे थे। वे बराबर आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। अतएव, कोरिया का वातावरण सदा अशान्त बना रहता था। कोरिया की राजनीति में उस समय दो दल थे। एक दल चीन का समर्थन करता था और दूसरा जापान का। वहाँ कैथोलिक ईसाइयत के आने से आधुनिकता की लहर भी फैली। इसके विरोध में 'तोंगहाक' (पूर्वी ज्ञान) नामक रूढ़िवादी विचारधारा फैली। शासक दल ने एक ओर परम्परा को मजबूत करने की कोशिश की और दूसरी ओर कुछ सुधारों की भी शुरुआत की। इस कार्यक्रम का संचालक यी हा ऊँग था जो 'ताएवोंगन' (महान राजकुमार) नाम से प्रसिद्ध था। वह पार्थक्य की नीति का पक्षपाती और फलतः जापान का विरोधी था। उसने 1876 ई० में जापान के साथ की गई सुलह का विरोध किया। इन रूढ़िवादियों को चीन का समर्थन प्राप्त था, जबकि सुधारवादी जापान पर आश्रित थे।

इस समय तक जापान की कोरियाई नीति लगभग स्थिर हो गई। जापान में उग्र राष्ट्रीयता का तूफान चल रहा था और जापानी अधिकारी प्रसारवाद की ओर अग्रसर हो रहे थे। उन्होंने कोरिया पर अधिकार करने का नारा उठाया। जनरल कूरोदा ने माँग की कि इससे पहले कि चीन शक्तिसम्पन्न हो जाए, जापान को कोरिया पर कब्जा कर लेना चाहिए।

कोरिया का राजनीतिक वातावरण दिन-प्रतिदिन अशान्त होता जा रहा था। 1882 ई० में वहाँ रूढ़िवादियों और सुधारवादियों में एक झड़प हो गई। रूढ़िवादियों ने जापानी दूतावास पर हमला कर वहाँ के निवासियों को निकाल दिया। इस पर जापानी अधिकारी अत्यन्त नाराज हुए, कोरिया को धमकी दी, हरजाना वसूल किया तथा अपने दूतावास की रक्षा के लिए फौज रखने का अधिकार हासिल किया।

1884 ई० में कोरिया में एक दूसरा बलवा हो गया। इस समय चीन यूरोपीय राज्यों से निबटने में व्यस्त था।

चीन की अव्यवस्था से लाभ उठाकर कोरिया के चीनविरोधी नेता शासन की बागडोर हड़पने का यत्न करने लगे। इस तरह, रूढ़िवादियों और सुधारवादियों में पुनः टक्कर हो गई। एक ने चीन से और दूसरे ने जापान से मदद की याचना की और चीन तथा जापान दोनों ने अपने-अपने पक्ष के लिए सहायता भेजी। चीन ने कोरिया में जापानी फौजों के प्रवेश का बड़ा विरोध किया, क्योंकि वह अब इस परिस्थिति को स्वीकार करने को तैयार नहीं था कि किसी अन्य राज्य की सेना कोरिया में आकर अपने पैर जमा ले। चीन की सेना भी कोरिया में मौजूद थी। अतएव, जैसे ही जापानी फौज कोरिया में घुसी कि स्थिति अत्यन्त तनावपूर्ण हो गई। लेकिन, इस बार दोनों देशों ने बड़े संयम से काम लिया। 1885 ई० में दोनों के बीच एक समझौता हो गया और यह निश्चय किया गया कि यदि उनमें से किसी को अपनी फौज कोरिया भेजनी पड़े तो वह दूसरे को सूचना दिए विना ऐसा नहीं करेगा और मामले के निबटारे के बाद फौरन उसे वापस बुला लेगा। यह समझौता हो जाने पर दोनों देशों ने कोरिया से अपनी-अपनी फौजें हटा लीं। कुछ समय के लिए कोरिया में शान्ति हो गई, लेकिन आपसी मनमुटाव चलता ही रहा।

चीन-जापान युद्ध का विस्फोट—1891 ई० में रूस ने फ्रांस से कर्ज लेकर पैंतीस सौ मील लम्बी ट्रांस साइबेरियन रेलवे बनाने का निश्चय किया। इसके लिए वह दक्षिण कोरिया में अड्डा बनाना चाहता था। इससे जापान के कान खड़े हो गए। इसी बीच 1894 ई० में पुनः एक विद्रोह हो गया। तोंगहाक दल के नेतृत्व में हुआ यह विद्रोह मुख्यतः विदेशियों के खिलाफ हुआ था। शाही फौज इसे दबाने में असमर्थ रही। अतएव, उसने चीन से मदद माँगी। चीन की सरकार ने चीनी सैनिकों का एक दस्ता भेज दिया, किन्तु 1885 ई० के समझौते के अनुसार जापान को इसकी सूचना पहले न देकर बाद में दी। जापान ने विरोध किया कि इतनी बड़ी संख्या में चीन के सैनिकों का कोरिया में पहुँचना सन्धि की शर्तों के विरुद्ध था। बदले में जापानी शासकों ने भी चीन को विधिवत सूचित कर सात हजार सैनिक कोरिया भेज दिए।

चीन और जापान की सेनाओं के कोरिया में घुसने के पहले ही कोरिया की सरकार ने बलवे को दबा दिया। इसके पश्चात कोरिया में एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई। कोरिया की भूमि पर दो विदेशी सेनाएँ डटी रहीं। दोनों ही सेनाएँ आमने-सामने खड़ी थीं। ऐसा प्रतीत हुआ कि दोनों के मध्य किसी भी क्षण युद्ध छिड़ जाएगा।

कुछ समय के लिए बातचीत द्वारा चीन और जापान का युद्ध टल गया। चीन ने प्रस्ताव रखा कि दोनों देश अपनी सेनाएँ हटा लें और दोनों ही भविष्य में कभी कोरिया की राजनीति में हस्तक्षेप न करें। जापान ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और यह प्रस्ताव रखा कि चीन और जापान दोनों मिलकर सहयोगपूर्वक कोरिया में आन्तरिक सुधार करें। चीन ने जापान के इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया। सत्य यह है कि दोनों पक्ष युद्ध की तैयारी कर रहे थे और उपर्युक्त कूटनीतिक वार्ता केवल युद्ध का बहाना ढूँढ़ने के लिए की जा रही थी। जापान युद्ध के लिए कृतसंकल्प था। वह अपनी सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता था, ताकि वह पश्चिमी शक्तियों को विश्वास दिला सके कि वह अपनी न्याय-व्यवस्था और अपनी आगमशुल्क व्यवस्था का स्वयं प्रबन्ध कर सकता है और उनमें मनमाने ढंग से परिवर्तन कर सकता है।

जापान ने अब स्वयं कोरिया में सुधार का बीड़ा उठाया। 26 जून को उसके मंत्री ने कोरिया की सरकार पर सुधार करने के लिए जोर डाला। कोरिया की सरकार ने आनाकानी की। इस पर 23 जुलाई को जापानी फौजों ने राजा को कैद कर लिया और सुधारों की घोषणा कर दी। नई सरकार ने चीनी अधिकारियों को कोरिया से निकालने के लिए जापान की सहायता माँगी। रूस और इंगलैण्ड ने चीन का समर्थन किया। लेकिन, जापान ने उन्हें यह कहकर शान्त कर दिया कि उसका विचार न तो कोरिया को हड़पने का है और न शंघाई में विदेशी हितों को नुकसान पहुँचाने का ।

अगस्त में एक चीनी जहाज चीनी सैनिकों सहित कोरिया की ओर जा रहा था। जापान ने मार्ग में ही उसे पकड़ लिया। और, चूँकि उक्त जहाज ने आत्मसमर्पण नहीं किया, अतः उस पर आक्रमण कर दिया गया, फलस्वरूप प्रत्येक चीनी यात्री समुद्र में डुबो दिया गया। इस घटना से क्षुब्ध होकर चीन ने 1 अगस्त, 1894 को युद्ध की घोषणा कर दी और दोनों पक्ष युद्धग्रस्त हो गए।

युद्ध और चीन की पराजय—यह युद्ध लगभग नौ महीनों तक चला जिसमें जापानियों की विजय हुई। स्थल युद्ध और जल युद्ध दोनों ही में चीन की करारी पराजय हुई। जापान की सैनिक तैयारियाँ बहुत ही श्रेष्ठ थीं। वस्तुतः, चीन और जापान का कोई मुकाबला ही न था। जापान ने सैनिक तैयारियों में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। जापान की डेढ़ लाख सेना सुदक्ष थी। उसे श्रेष्ठ प्रशिक्षण दिया गया था। जापानी

सैनिकों को यथासमय वेतन मिलता था और उनके जनरल अनुभवी और अत्यन्त योग्य थे। उन्हें गोला-बारूद और अन्य रसद की वस्तुएँ यथासमय तथा आवश्यकतानुसार मिलती थीं। जापानी नौसेना में पर्याप्त संख्या में यात्री जहाज थे, जो सेना अथवा युद्ध सामग्री एक रणक्षेत्र से दूसरे रणक्षेत्र में शीघ्रता से पहुँचाया करते थे।

इसके विपरीत, चीन की सेना एकदम बेकार थी। उसके पास न शस्त्रास्त्र थे और न उसके सैनिक प्रशिक्षित थे तथा सैनिकों को नियमित वेतन भी नहीं मिलता था। कहने को तो चीन की नौसेना मजबूत थी और उसके युद्धपोत आधुनिक नमूने के थे, किन्तु उसके सेनापति अत्यन्त अयोग्य थे। इसके अतिरिक्त चीन का शासनप्रबन्ध भी दूषित और भ्रष्ट था। फल यह हुआ कि चीन के बड़े युद्धपोतों की तोपों के लिए जिन गोलों और बारूदों की व्यवस्था की गई, वे युद्धस्थल में लकड़ी के गोले और लकड़ी के बुरादे निकले।

ऐसी हालत में चीन की पराजय अवश्यम्भावी थी। वस्तुतः, युद्ध के प्रारम्भ और अन्त तक कभी चीन को कोई सफलता नहीं प्राप्त हुई। सितम्बर के अन्त तक चीनी सेना को कोरिया से भागना पड़ा और यालू नदी की मुठभेड़ में चीनी बेड़े की भीषण पराजय हुई। जापान की एक सेना ने मंचूरिया पर और दूसरी ने लियाओतुंग प्रायद्वीप पर आक्रमण किया। किंगचाऊ और टांकिन का पतन हो गया और नवम्बर में पोर्ट आर्थर पर भी जापान ने अधिकार कर लिया। 1895 ई० के प्रारम्भ में जापान की सेनाएँ शांतुंग जा पहुँचीं जो कोरिया के दूसरे छोर पर स्थित था। फरवरी के मध्य तक वेईहाईवेई का भी पतन हो गया। उत्तर में कई चीनी रक्षा चौकियों पर जापान ने अधिकार जमा लिया और इसके उपरान्त जापान की सेनाएँ चीन की राजधानी को घेरती हुई आगे बढ़ने लगीं। इस हालत में चीन की सरकार ने जापान के साथ सन्धि कर लेना ही उचित समझा और इसके लिए प्रस्ताव रखा। चीन को गिरते देखकर वहाँ का नेता ली हंग-चांग मार्च, 1895 में जापानी प्रधानमंत्री ईतो हीरोबूमा से बातचीत करने के लिए जापान पहुँचा। शिमोनोसेकी में दोनों अधिकारियों की बातचीत शुरू हुई। किसी बदमाश जापानी ने ली हंग-चांग को गोली मार दी, जो उसकी बाईं आँख के नीचे लगी। परन्तु, वह बच गया और जापानी प्रधानमंत्री को उससे कुछ नरमी का बरताव करना पड़ा।

शिमोनोसेकी की सन्धि—17 अप्रिल, 1895 को चीन और जापान के बीच युद्ध का अन्त करने के लिए एक सन्धि हो गई, जिसकी प्रमुख शर्तें अग्रलिखित थीं—

1. कोरिया को स्वतंत्र राज्य के रूप में स्वीकार किया गया और यह निश्चय हुआ कि उस पर चीन का किसी भी तरह का प्रभुत्व न रहे।
2. चीन ने जापान को फारमोसा, पेस्काडोर्स और लियाओतुंग प्रायद्वीप दे दिए।
3. चीन ने जापान को 200,000,000 तैल (चीनी सिक्का) हर्जाना देना स्वीकार किया। जब तक यह रकम चीन नहीं चुका देता तब तक जापान वेईहाईवेई के बन्दरगाह पर कब्जा रख सकता था।
4. चीन ने जापान से एक व्यापारिक सन्धि की जिसमें उसने जापानी उद्योग और व्यापार के लिए चुंगकिंग, सूचो, हांगचो के बन्दरगाह खोल दिए और उसे वे सब सहूलियतें दीं जो यूरोपीय देशों को प्राप्त थीं।

यूरोपीय राज्यों का हस्तक्षेप—शिमोनोसेकी की सन्धि के कारण जापान तथाकथित शक्तिशाली देशों की श्रेणी में आ गया। लेकिन, जापान की विजय से यूरोपीय लोग बौखला उठे, क्योंकि वे एशिया में किसी एशियाई शक्ति को पनपने या बढ़ने देना नहीं चाहते थे। अतः, अभी शिमोनोसेकी की सन्धि की स्याही सूखने भी न पाई थी कि जापान को मजबूर किया गया कि वह उन लाभों को त्याग दे जो उसे उक्त सन्धि द्वारा प्राप्त हुए थे। कारण यह था कि जापान की विजयों से रूस की महत्त्वाकांक्षा पर एक शक्तिशाली अंकुश लग गया था। चूँकि जापान के अधिकार में लिआओतुंग प्रायद्वीप आ चुका था और इसके साथ ही वह उस पोर्ट आर्थर पर भी अधिकार जमा चुका था जो सदैव बर्फ से मुक्त रहता था और चूँकि जापान अब सीधे पिकिंग पर आक्रमण करने की स्थिति में चला आया था, इसलिए मंचूरिया में रूस और जापान के हितों में टक्कर की सम्भावना उत्पन्न हो गई। काउण्ट बिटे ने जार निकोलस द्वितीय से कहा था कि "हम नहीं चाहते कि जापान अपने द्वीप को छोड़कर एशिया की मुख्य भूमि पर अधिकार करे। हम शान्ति के साथ पूर्व एशिया के साथ अपना सम्बन्ध बनाना चाहते हैं। जापान उसमें बाधक होगा।" ली हंग चांग की प्रार्थना पर जार ने चीन के पक्ष में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। उसने जापान के सम्राट् को एक पत्र भेजा जिसमें जापान को सावधान किया गया कि वह सदैव के लिए लियाओतुंग प्रायद्वीप पर अधिकार नहीं कर सकता है, क्योंकि "इससे सुदूरपूर्व का राजनीतिक सन्तुलन बिगड़ जाएगा।" उसने यूरोपीय राज्यों से अनुरोध किया कि वे जापान पर दबाव डालें और शिमोनोसेकी की सन्धि में संशोधन के लिए रूस की

सरकार का समर्थन करें। ग्रेट ब्रिटेन ने ऐसा करने से साफ इनकार कर दिया। जापान की विजय से ब्रिटेन को चिन्ता अवश्य हुई, परन्तु ब्रिटेन जापान की उत्साही कार्यकुशलता का प्रशंसक था और यह समझता था कि शान्तिसन्धि की व्यापारिक व्यवस्थाओं से चीन में ब्रिटिश व्यापार को बहुत लाभ होगा।

फ्रांस ने तत्काल रूस के विचारों का समर्थन किया, क्योंकि इस समय तक फ्रांस और रूस के बीच एक सन्धि हो चुकी थी और फ्रांस किसी भी मूल्य पर रूस को नाराज नहीं कर सकता था। जर्मनी ने भी रूस के विरोध का समर्थन किया, क्योंकि कैसर का विश्वास था कि चीन का विभाजन सम्भव है और इस कार्य में सक्रिय होना लाभकारी रहेगा।

इस प्रकार रूस, फ्रांस तथा जर्मनी का एक संयुक्त मोर्चा तैयार हो गया जिसका उद्देश्य जापान पर दबाव डालकर शिमोनोसेकी की सन्धि में संशोधन करवाना था। शिमोनोसेकी की सन्धि के छह दिनों के बाद, अर्थात 23 अप्रैल, 1895 को रूस, फ्रांस और जर्मनी के प्रतिनिधियों ने टोकियो में जापान के उपनिवेशमंत्री काउण्ट हयाशी को पत्र दिया जिसमें लिखा था कि "लियाओतुंग प्रायद्वीप पर जापान के अधिकार से चीन की राजधानी को खतरा रहेगा। साथ ही, इससे कोरिया की स्वतंत्रता भ्रामक ही रहेगी और सुदूरपूर्व की शान्ति के लिए यह स्थायी बाधा सिद्ध होगी।" तीनों राष्ट्रों ने अपनी मैत्री का प्रमाण देते हुए जापान को लियाओतुंग पर अपना अधिकार त्याग देने की 'सलाह' दी। तीस रूसी जहाज जापान के इनकर करने पर उससे लड़ने के लिए एशियाई समुद्र में गश्त करने लगे। जापान ने इंगलैण्ड और अमेरिका को टटोला कि उनसे कोई मदद मिल जाए, लेकिन उनसे कोई आशाजनक उत्तर नहीं मिला। इस पर 1 मई को वह सबसे दक्षिणी कोना छोड़कर शेष सारा लियाओतुंग चीन को वापस देने को तैयार हो गया। लेकिन, यूरोपीय ताकतें इस पर तैयार नहीं हुईं। 5 मई को जापान ज्यादा हर्जाना लेकर लियाओतुंग प्रायद्वीप छोड़ने के लिए राजी हो गया। 8 नवम्बर को एक समझौते पर हस्ताक्षर कर लियाओतुंग चीन को लौटा दिया गया। चीन ने अतिरिक्त क्षतिपूर्ति के रूप में तीन करोड़ तैल देना स्वीकार कर लिया।

चीन-जापान युद्ध का महत्त्व

युद्ध का जापान के लिए महत्त्व—पूर्वी एशिया के आधुनिक इतिहास में चीन-जापान युद्ध एक निर्णायक और युगान्तरकारी घटना सिद्ध हुआ और इसके अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। इस युद्ध ने चीन की कमजोरी को सारे संसार के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। साथ ही, दुनिया को अब जापान की शक्ति का पता भी लग गया। जापान ने खुले मैदान में अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था और यह दिखला दिया था कि सैनिक दृष्टि से वह किसी भी यूरोपीय राज्य से कमजोर नहीं। यूरोपवासी समझ गए कि पूर्व में एक नए सूर्य का उदय हुआ है। ऐसी हालत में जापान यूरोपीय राज्यों के साथ अब समानता के स्तर पर बात करना चाहता था। इस दृष्टि से चीन-जापान युद्ध का प्रथम परिणाम यह हुआ कि जापान ने यूरोपीय शक्तियों द्वारा आरोपित असमान सन्धियों से मुक्ति पा ली। उसने अपनी न्यायसंहिता में सुधार कर लिया था और अब अपनी शक्ति का सफल प्रदर्शन कर दिया था। अब पश्चिमी शक्तियों के लिए यह आवश्यक नहीं रह गया था कि वे अपनी नागरिकों की रक्षा के लिए विशेष संरक्षण की माँग करें। अतएव, जापान ने पूरी तरह से असमान सन्धियों से मुक्ति प्राप्त कर ली। जापान में विदेशियों के राज्यक्षेत्रातीत अधिकार समाप्त कर दिए गए। जापान को चुंगी की स्वतंत्रता भी प्राप्त हो गई। चुंगी के मामले में अब यूरोपीय शक्तियाँ किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकती थीं। इस प्रकार, अब जापान अन्य यूरोपीय राज्यों के समकक्ष स्तर पर आ गया।

जापानी साम्राज्यवाद का विकास—चीन-जापान युद्ध में जापान की विजय ने जापानी साम्राज्यवाद को उत्तेजना प्रदान की। वस्तुतः, युद्ध में जापान की यह विजय जापानी साम्राज्यवाद का आधारस्तम्भ सिद्ध हुई और इसी आधार पर आगे चलकर जापान के सम्पूर्ण साम्राज्यवादी जीवन की इमारत खड़ी की गई। पचीस वर्षों से जापान अपनी महत्त्वाकांक्षा को दबाए पड़ा था और शक्ति संचय कर रहा था। इस युद्ध में उसने अपनी शक्ति की परीक्षा कर ली और अपनी महत्त्वाकांक्षा प्राप्त कर ली। जापान को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और इस सफलता के फलस्वरूप जापान की और अधिक विजयों की लालसा बढ़ी। अगले दस वर्षों में जापान ने एक यूरोपीय शक्ति को चुनौती दी और उसे पछाड़ दिया। संक्षेप में, युद्ध के बीस-बाइस वर्ष के अन्दर जापान ने अपार उन्नति की। अब यूरोपवाले भी समझ गए कि पूर्व की विजयों के लिए एक नया प्रत्याशी पैदा हो गया है। एशिया में जापान के विस्तार को यूरोपवासी भय की दृष्टि से देखने लगे

और उसे उन्होंने 'पीत आतंक' (Yellow Peril) नाम दिया। निस्सन्देह, यूरोपवासियों का जापान सम्बन्धी यह भय सत्य था और जापान की शक्ति निरन्तर बढ़ती गई।

जापान की आन्तरिक राजनीति पर प्रभाव—जापानी राजनीति में स्थिरता लाने के लिए चीन-जापान का यह युद्ध एक अच्छा और उपयोगी साधन सिद्ध हुआ। हम कह आए हैं कि मेईजी संविधान के बाद जो चुनाव हुए, उनके बाद जापान की राजनीति में बड़ी अशान्ति पैदा हो गई थी और सरकार तथा संसद में हमेशा संघर्ष पैदा होता रहता था। लेकिन, युद्ध के विस्फोट ने जापान की आन्तरिक राजनीति से इस स्थिति को समाप्त कर दिया। देश में एकता हो गई। सरकार और संसद में समझौता हो गया, युद्ध के लम्बे-चौड़े बजट एक भी विरोधी मत के बिना पारित कर दिए गए तथा फरवरी में एक प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ।इसमें युद्ध चलाने के लिए जितनी भी आवश्यकता हो, उतना धन लगाने का अधिकार दे दिया गया।

चीन पर युद्ध का प्रभाव—चीन-जापान युद्ध में चीन का गर्वीला केन्द्रीय राज्य उस देश के हाथों पराजित हो गया था जिसकी जनता को वह केवल निम्नवर्ग का ही नहीं समझता था, बल्कि उसके आधुनिकीकरण के कारण उसे कन्फ्यूशियसवादी समाज के प्रति विद्रोही भी समझता था। अब जापान की विजय के बाद चीन द्वारा शताब्दियों से कायम अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के कन्फ्यूशियसवादी सिद्धान्त नष्ट हो गए थे। पूर्वी एशिया में कन्फ्यूशियसवादी राष्ट्रमण्डल का सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक किसी प्रकार का भी अस्तित्व नहीं रह गया था। चीन केन्द्रीय राज्य भी नहीं रह गया था, क्योंकि उसकी वरिष्ठता स्वीकार करनेवाला सीमान्त और आश्रित राज्य कोई भी नहीं रहा था।

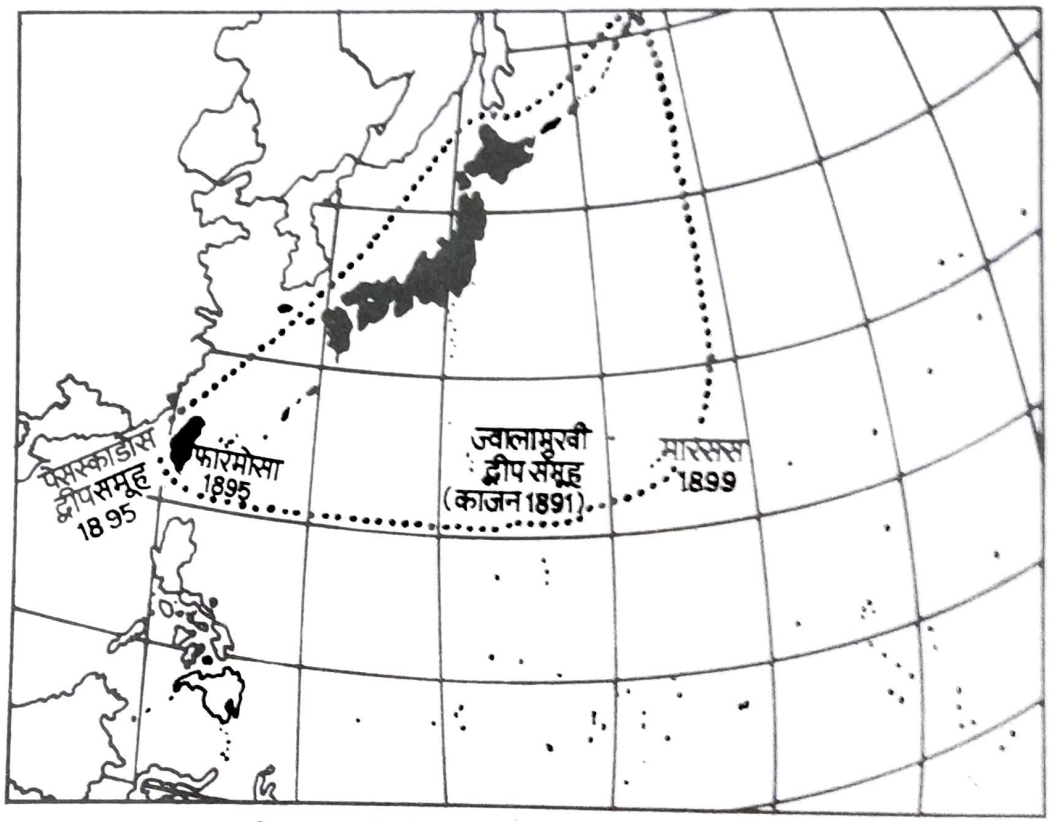

1891 से 1904 ई० के बीच जापान का साम्राज्यवादी प्रसार

[जापान के साम्राज्यवादी जीवन का वास्तविक प्रारम्भ 1894-95 के चीन-जापान युद्ध से होता है। चीन को कमजोर पाकर जापान ने पश्चिमी शक्तियों की तरह चीन के भूभागों को हस्तगत करने का निश्चय किया। कोरिया के प्रश्न को लेकर उसने चीन के विरुद्ध 1894 ई० में युद्ध की घोषणा कर दी और युद्ध में उसे हराकर फारमोसा और पेसाकाडोर्स के द्वीपसमूहों पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया। शिमोनोसेकी की सन्धि से उसे और भी लाभ हुए थे, लेकिन यूरोपीय राज्यों के हस्तक्षेप के कारण जापान को सन्धि में संशोधन स्वीकार करना पड़ा और उसे कई लाभ छोड़ने पड़े।

1899 ई० में जापान ने मारसस द्वीपों पर अधिकार कायम कर लिया। 1891 ई० में ही वह ज्वालामुखी द्वीपसमूहों पर अधिकार कर चुका था।]

चीन-जापान युद्ध के साथ चीन के इतिहास में एक युग का अन्त हुआ और दूसरे युग का प्रारम्भ।

इसके कारण चीन और पश्चिम के सम्बन्धों में एक नए और नाटकीय युग का सूत्रपात हुआ। 1895 ई० तक चीन में पश्चिमी राष्ट्रों की मुख्य दिलचस्पी वाणिज्य के लिए ही थी। व्यापारी चीन का रेशम और चाय खरीदते थे और बदले में चीन को चाँदी, अफीम और अनेक प्रकार की निर्मित वस्तुएँ बेचते थे। इसी क्रम में चीन में विदेशी लोग निरंतर घुसपैठ कर रहे थे और वे चीन को चारों ओर से घेरते चले आ रहे थे, जिसके फलस्वरूप चीन के कई अधीनस्थ प्रदेशों पर विदेशियों का अधिकार भी कायम हो गया था। लेकिन, चीन-जापान युद्ध के बाद स्थिति एकदम बदल गई। यूरोपीय शक्तियों को पता लग गया कि चीन अत्यन्त दुर्बल है और उस पर किसी तरह की मनमानी की जा सकती है। चीन किसी शक्तिशाली पश्चिमी देश से पराजित नहीं हुआ था, बल्कि वह तो एशिया की ही उस एक 'बौनों की जाति' से पराजित हुआ था, जिसे चीन शताब्दियों से घृणा की दृष्टि से देखता चला आ रहा था। चीन इतना कमजोर था कि उसकी भूमि पर आक्रमण हुआ। उसे न केवल अपने अधीनस्थ राज्यों को ही गँवाना पड़ा, वरन् उसकी प्रादेशिक अखण्डता भी भंग हो गई। इसे देखकर यूरोप के लोगों के मुँह में पानी भर आया और सब-के-सब चीन की लूटखसोट के लिए दौड़ पड़े। यूरोप को प्रतीत हो गया कि चीनी साम्राज्य के पूर्ण विनाश का विश्वास न हो।

इस प्रकार चीन के इतिहास में एक नया युग शुरू हुआ जो वर्साय की सन्धि (1919 ई०) तक चला। इस युग को सामान्यतः चीन के ऊपर यूरोपीय शक्तियों एवं जापान के आक्रमण का युग कहा जा सकता है। रूस की हमदर्दी के बदले चीन ने उसे ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे को उत्तरी मंचूरिया में से ले जाकर ब्लाडिवोस्टोक तक जोड़ने की इजाजत दे दी। चीन द्वारा जापान को जो हर्जाना देना था, उसकी अदायगी के लिए फ्रांस से जारी किए गए एक ऋण की रूस ने गारण्टी कर ली जिससे चीनी सरकार पर उसका भार बढ़ गया। कोरिया में भी रूस की चालें चलती रहीं। 1898 ई० में रूस ने उसी लियाओतुंग प्रायद्वीप में, जिसे तीन साल पहले जापान को दिए जाने पर उसने सख्त आपत्ति की थी, चीन से पोर्ट आर्थर और दायरन का पट्टा लिया और उन्हें ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे की एक शाखा से जोड़ दिया। उसने एक रूसी-चीनी बैंक भी खोल दिया और इस तरह मंचूरिया और उत्तरी चीन में अपने पंजे जमा लिए। 1897 ई० में चीनियों द्वारा कुछ जर्मन पादरियों की हत्या किए जाने का बहाना लेकर जर्मनी ने शान्तुंग प्रान्त में कियाओचाऊ बन्दरगाह का चीन से 99 वर्ष का पट्टा ले लिया और वहाँ त्सिंगताऊ नाम का एक नगर बसाकर उसे रेलवे लाइनों से अन्दर तक के इलाकों से जोड़ दिया। इंगलैंड ने वेईहाईवेई के बन्दरगाह का पट्टा लेकर यांगत्सी की घाटी को अपना प्रभाव क्षेत्र बना लिया और वहाँ रेल बिछाने, उद्योग चलाने, खानों पर काम करने आदि का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। फ्रांस ने दक्षिण चीन पर अपना सिक्का जमा लिया। संक्षेप में, यूरोपीय राज्यों द्वारा चीन की लूट-खसोट और बन्दर-बाँट शुरू हो गई।

लेकिन, चीन के लिए चीन-जापान युद्ध का यह परिणाम अभिशाप के रूप में वरदान सिद्ध हुआ। जापान से हारने के बाद चीन के लोगों को जब अपनी कमजोरी का पता चला तब उन्हें निराशा ने घेर लिया और उनमें विद्रोह और क्रोध की ज्वाला जलने लगी। चीन के लोगों ने इस दुरवस्था की सारी जिम्मेदारी निकम्मी मंचू सरकार पर मढ़ी। वे समझने लगे कि यदि चीन को संसार के नक्शे पर अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखना है तो सर्वप्रथम उसे अपनी शासन-व्यवस्था से छुटकारा पाना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, चीन में क्रांति की तैयारी होने लगी। अनेक गुप्त संगठन कायम किए गए। विशेष रूप से ई-हो-छुएन नाम का व्यापक आन्दोलन चल पड़ा। उसके सदस्यों को आम तौर पर मुक्केबाज (बॉक्सर) कहते हैं। उन्होंने विदेशियों को निकालने का संकल्प लिया और 1900 ई० में उनका एक व्यापक विद्रोह (देखिए पृष्ठ 42) शुरू हुआ। यद्यपि यह विद्रोह दबा दिया गया, लेकिन क्रांति की जो अग्नि इसने प्रज्वलित की उसे दबाया न जा सका और 1911 ई० में उसने मंचू राजवंश को जलाकर राख कर दिया। इस दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि 1911 की चीनी क्रान्ति परोक्ष रूप से 1894-95 के चीन-जापान युद्ध का परिणाम थी।

मंचू शासकों को भी चीन की कमजोरी का भान हुआ। जापान से पराजित होने के कारण वे भी बहुत लज्जित थे और अब यह अनुभव करने लगे कि जब तक शासन के तरीके में आमूल परिवर्तन नहीं होगा तब तक चीन विदेशी दबावों का मुकाबला नहीं कर सकता है। अतः, चीन में भी सुधारों की एक लहर दौड़ पड़ी। चीन के कुछ प्रबुद्ध नागरिकों तथा अधिकारियों की सहायता से मंचू सम्राट् ने सुधारों का एक कार्यक्रम (देखिए पृष्ठ 40) अपनाया। यद्यपि सुधारों की योजना तुरन्त ही समाप्त हो गई और उसका कोई परिणाम नहीं निकला, लेकिन यह प्रदर्शित हो गया कि चीन में सुधारों की आवश्यकता मंचू शासक भी अनुभूत करते हैं और कुछ ही दिनों के बाद सुधारों का दूसरा दौर चला। इसकी असफलता ने क्रान्ति को चीन में और नजदीक ला दिया।

जापानी साम्राज्यवाद का प्रथम चरण (1894-1919)

1. जापानी साम्राज्यवाद के विकास के कारण

जापान का आधुनिकीकरण—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जापान का उत्कर्ष एवं यूरोपीयकरण एशिया तथा नवीन साम्राज्यवाद के इतिहास में एक युगान्तरकारी घटना माना जाएगा। मेईजी पुनःस्थापना ने देश में एक नया जागरण पैदा किया और जापान में पश्चिमीकरण तथा सुधारों की एक लहर दौड़ पड़ी। कुछ ही वर्षों में जापान देखते-देखते एक अत्याधुनिक राष्ट्र बन गया। अब किसी भी समुन्नत यूरोपीय राज्य से उसकी तुलना की जा सकती थी।

जापान ने शुरू में अपना आधुनिकीकरण आत्मरक्षा के उद्देश्य से किया था। यह उस अनुभव का परिणाम था कि जब तक जापान स्वयं अपने को यूरोपीय राज्यों के समकक्ष नहीं बना लेगा, तब तक पश्चिम के अन्य देश उसे चैन से नहीं रहने देंगे और उसकी स्वतंत्रता भी समाप्त कर देंगे। लेकिन, उन्नीसवीं सदी के अन्त में जापान का यह उद्देश्य समाप्त हो गया। अब जापान में हर क्षेत्र में पाश्चात्य जगत का अनुकरण करने की लालसा जगी। यह लालसा राष्ट्रीय जीवन में परिवर्तन तक सीमित न रही, वरन् साम्राज्यवादी जीवन की ओर भी बढ़ गई, जिसके फलस्वरूप यूरोपीय देशों तथा अमेरिका की तरह वह भी साम्राज्यवादी देश हो गया।

जापान के आधुनिकीकरण का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू उसका अपूर्व औद्योगिक विकास था। जापान में बड़े-बड़े कल-कारखाने खुले और बहुत बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ हुआ। इस तरह, जापान का औद्योगिकीकरण हुआ और वह एक उद्योगप्रधान देश बन गया। आधुनिक उद्योगीकरण साम्राज्यवाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व रहा है। एक औद्योगिक देश को कई तरह की चीजों की आवश्यकता होती है। उद्योग-धंधे चलाने के लिए सर्वप्रथम कच्चे माल की आवश्यकता होती है। फिर, कच्चे माल से सामान तैयार कर उन्हें बेचने के लिए बाजार की भी आवश्यकता होती है। जापान एक छोटा सा देश है। और उसके औद्योगिक साधन अत्यन्त सीमित हैं। अपने उद्योग-धन्धों के लिए वह स्वयं अपने देश में प्राप्त कच्चे माल से सन्तुष्ट नहीं हो सकता था; क्योंकि वह बहुत ही अपर्याप्त था। कच्चे माल के लिए वह दूसरे देशों पर आश्रित था। यही बात औद्योगिक चीजों को बेचने के लिए बाजार के साथ भी थी। जब उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा तो चीजों के खपत की समस्या आई। इन दोनों बातों के लिए जापान को दूसरे देशों पर निर्भर करना था।

कच्चे माल और बाजार की उपलब्धि के लिए साम्राज्यवादी जीवन का प्रारम्भ आवश्यक हो गया। इन दोनों चीजों की प्राप्ति बाहरी पिछड़े देशों पर राजनीतिक प्रभुता कायम कर ही की जा सकती है। कोई भी देश चाहे कितना भी पिछड़ा क्यों न हो, इस तरह स्वेच्छापूर्वक अपना आर्थिक शोषण नहीं होने देगा। ऐसी स्थिति में पिछड़े देशों को अपना बाजार बनाने के लिए और वहाँ के कच्चे माल द्वारा अपने व्यवसाय को बढ़ाने के लिए उन पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना आवश्यक बन गया। राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने का एक उपाय था—युद्ध। अतएव, इस परिस्थिति में जापान को युद्ध का सहारा लेना पड़ा और इस तरह उसके साम्राज्यवादी जीवन का आरम्भ हुआ।

सैनिकवाद—जापानी साम्राज्यवाद के विकास का दूसरा कारण वहाँ सैनिकवाद का विकास था। मेईजी पुनःस्थापना के बाद जापान बड़ी तेजी से आधुनिकता की ओर अग्रसर हुआ। इस आधुनिकता की लहर में जापान के सैनिक पुनर्गठन पर विशेष ध्यान दिया गया। इसके पूर्व जापान का सैनिक संगठन सामन्तवादी व्यवस्था पर आधृत था। लेकिन, मेईजी पुनःस्थापना के उपरान्त जापान के सैनिक संगठन में आमूल परिवर्तन हुआ। सेना के सामन्तवादी स्वरूप का अन्त कर दिया गया। अब जापान में अनिवार्य सैनिक सेवा लागू की गई और एक राष्ट्रीय सेना का संगठन हुआ। इस सेना को प्रशिक्षित करने के लिए

प्रशा से सैनिक विशेषज्ञ बुलाए गए, जिन्होंने जापानी जलसेना और स्थलसेना का संगठन आधुनिक प्रशियन ढंग से किया। सेना को नियमित रूप से वेतन मिलने लगा और सैनिकों पर प्रशियन अनुशासन कायम हुआ।

शुरू से ही जापान के लोग सैनिक मनोवृत्ति के थे। नए युग में उनकी इस प्रवृत्ति को और प्रोत्साहन मिला। नई संगठित सेना में कुछ बड़े ही महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति अफसरों के पद पर आसीन थे। वे आक्रामक प्रवृत्ति के थे और अपने को उच्चकोटि का देशभक्त मानते थे। इन सैनिक अफसरों का ख्याल था कि जापान को उग्र और आक्रामक सैनिक विदेशनीति का अवलम्बन करना चाहिए। उन्हें जापान की सैनिक शक्ति पर अत्यधिक भरोसा था और इसके बल पर वे जापान के राज्य का विस्तार करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि जापान की सैनिक शक्ति अजेय है और उसके बल पर अपना राज्य विस्तार कर सकते हैं। सैनिक अफसरों का यह शक्तिशाली गुट देश की राजनीति पर बड़ा प्रभाव रखता था। इनलोगों ने जापान की सरकार को उग्र आक्रामक नीति का अनुसरण करने के लिए बाध्य किया। इसे लेकर निकट पड़ोस के देशों पर जापान का आक्रमण शुरू हुआ। जापानी साम्राज्यवाद का विकास यहीं से मानना चाहिए।

आबादी की समस्या—जापान की आबादी की समस्या जापानी साम्राज्यवाद का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण थी। एक वर्गमील के हिसाब से जापान की आबादी चीन से चौगुनी और भारत से दुगुनी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इस आबादी में घनघोर वृद्धि हो रही थी। जिस तेजी के साथ जापान की आबादी बढ़ रही थी, वह जापान के शासकों के लिए एक कठिन समस्या हो रही थी। सबसे बड़ी समस्या इस बढ़ती हुई आबादी को खिलाने की थी। जापान का इलाका ज्यादातर पहाड़ी है और उसकी बीस प्रतिशत जमीन ही खेती के योग्य है। यदि खेती के योग्य जमीन के अनुपात से आबादी की सघनता पर विचार किया जाए तो यह जापान में सब देशों से ज्यादा है। जापान की इस समस्या का समाधान एक ही तरीके से किया जा सकता था—अतिरिक्त आबादी को दूसरे देशों में जाकर बसने को प्रोत्साहित कर। लेकिन, यह सम्भव नहीं था, क्योंकि जिन जगहों पर जापानी लोग जाकर बस सकते थे या जहाँ बसने के लिए वे इच्छुक थे, उन जगहों पर यूरोपीय लोग पहले से ही कब्जा जमाकर बैठे हुए थे। इसके अतिरिक्त, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड इत्यादि देशों के विदेशी प्रवास नियम इतने कठोर थे कि इन देशों में एशियाइयों का बसना असम्भव था। जापानियों द्वारा निकट के मंचूरिया में जाकर बसने का प्रयास किया गया, लेकिन इससे समस्या का समाधान नहीं हुआ। मंचूरिया में स्थानीय मजदूर बहुत कम मजदूरी पर काम कर लेते थे और उनके साथ प्रतियोगिता में जापानियों का टिकना असम्भव था। इस कारण, कुछ ही दिनों बाद मंचूरिया में जापानियों का जाना बन्द हो गया और समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही।

इस हालत में इस समस्या के समाधान का एक ही उपाय था—जापान का उद्योगीकरण। अर्थात, जापान में बड़े-बड़े कल-कारखाने खोले जाएँ और इन्हीं कल-कारखानों में जापान की बढ़ती हुई आबादी को लगा दिया जाए। लेकिन, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उद्योगीकरण के लिए दो चीजों की आवश्यकता होती है—कच्चा माल और बाजार। और, जापान में इन चीजों का अभाव था या पर्याप्त मात्रा में ये उपलब्ध नहीं थे। कच्चे माल का प्रबन्ध तो किसी तरह हो सकता था, लेकिन बाजार प्राप्त करने की समस्या बड़ी कठिन थी। एशिया के सभी देश किसी-न-किसी यूरोपीय राज्य के मातहत थे और कोई भी यूरोपीय देश अपने राज्य में या अपने अधिकृत क्षेत्र में एक नए प्रतिद्वन्दी को घुसने देना नहीं चाहता था। ऐसी दशा में जापान के समक्ष जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया। इसी आवश्यकता ने जापानी साम्राज्यवाद को जन्म दिया।

पश्चिमी साम्राज्यवाद का भय और राष्ट्रीय सुरक्षा की आवश्यकता—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यूरोपीय साम्राज्यवाद का एशिया और अफ्रीका में चरम विकास हो चुका था। उस समय यूरोप के विविध राज्य और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों ही जापान के आसपास के क्षेत्रों में अपने साम्राज्य का विस्तार कर चुके थे अथवा करने में व्यस्त थे। चीन को लूटने-खसोटने का काम प्रारम्भ हो गया था। 1898 ई० में हवाई द्वीपसमूह पर अमेरिका का आधिपत्य कायम हो गया। कुछ ही दिनों के पश्चात फिलिपाइन्स द्वीपसमूह पर भी अमेरिका का आधिपत्य कायम हो गया। इस प्रकार, जापान चारों ओर से साम्राज्यवादी संघर्षों से घिरने लगा। उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा भी खतरे में पड़ गई। कोई भी देश इस स्थिति को चुप बैठे कैसे देख सकता है कि उसके पास-पड़ोस के देशों पर बाहर की शक्तियाँ आकर अपना आधिपत्य जमा लें। इसके कारण उस देश पर भी खतरा उत्पन्न हो सकता है। अतएव, अपनी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक हो गया कि जापान भी उग्र आक्रामक नीति का अवलम्बन करे, ताकि किसी अन्य राज्य को उसकी भूमि पर अधिकार करने का साहस न हो।

प्रजातीय समानता की आकांक्षा—जापानी लोग अपने को श्रेष्ठ प्रजाति का मानते थे। वे अपने देश को देवलोक तथा अपने सम्राट् को ईश्वर का रूप मानते थे। उनका विश्वास था कि शेष संसार के लोग जंगली और असभ्य हैं और श्रेष्ठ प्रजाति के होने के कारण उनका अधिकार है कि वे दूसरी जातियों पर शासन करें। जापान पूर्व के देशों में पहला देश था जो यूरोप के किसी भी देश की बराबरी कर सकता था। इस प्रकार, अपना आधुनिकीकरण कर जापान यूरोपीय समाज में प्रविष्ट होने का प्रयास करने लगा। लेकिन, उस समाज में उसका स्वागत करने के लिए कोई तैयार नहीं था। यूरोप के सभी देश जापान को शंका की निगाह से देखते थे और उससे ईर्ष्या करते थे। यूरोप के ये राज्य जापान को अनादर, उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। जापान के घमण्डी लोगों को यह व्यवहार बड़ा बुरा लगता था। वे चाहते थे कि यूरोपीय देश उनके साथ समानता का व्यवहार करें। 1871 ई० में जापान ने यूरोप को इवाकुरा-शिष्टमण्डल भेजा, ताकि वह यूरोपीय देशों को अनुकूल कर असमान सन्धियों में परिवर्तन कराए। किन्तु, इसमें उसे सफलता नहीं मिली। अतः, जापान के मन में यह विश्वास घर गया कि जापान के लिए केवल सभ्य होना ही पर्याप्त नहीं है। उसे यूरोपियों के बराबर सामाजिक स्थिति प्राप्त करने के लिए शक्तिशाली भी बनना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जापान को विश्वास हो गया कि पूर्वी एशिया की समस्या का आखिरी हल शक्ति द्वारा ही हो सकता है। जापानियों का कहना था कि जब तक जापान एक शक्तिशाली साम्राज्यवादी देश नहीं होगा, तब तक यूरोपीय देश उसकी उपेक्षा करते रहेंगे। जापान किसी भी यूरोपीय देश से कम नहीं था, लेकिन साम्राज्य के अभाव में जापानियों के साथ समानता के स्तर पर व्यवहार नहीं किया जा रहा था। अपने राष्ट्रीय जीवन से इस कमी को दूर करने के लिए जापान ने साम्राज्यवाद का सहारा लेना ठीक समझा और इस प्रकार उसके साम्राज्यवादी जीवन का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हो गया।

जापान की आन्तरिक राजनीति—मेईजी संविधान के अनुसार जापान में जुलाई, 1890 में पहला चुनाव हुआ और संसद का संगठन हुआ। लेकिन, जैसे ही संसद की बैठक शुरू हुई कि सरकार से उनकी नोंक-झोंक शुरू हो गई। संसदवालों ने संविधान में संशोधन की माँग की, ताकि सरकार संसद के प्रति उत्तरदायी हो। इस बात पर गतिरोध उत्पन्न हो गया। प्रधानमंत्री यामागाता आरीतोमो इस प्रस्ताव का कट्टर विरोधी था। उसका उत्तराधिकारी मातसूकाता मासायासी का भी वैसा ही विचार था। अतएव, 1891 ई० में उसने संसद को भंग कर दिया और दूसरे चुनाव का आदेश दिया। 1892 ई० में यह दूसरा चुनाव भी हुआ। इसमें सरकार ने हर नैतिक-अनैतिक साधनों का प्रयोग किया, ताकि चुनाव में उसके समर्थक जीतें। लेकिन, इस उद्देश्य में सरकार को सफलता नहीं मिली। मई में जब संसद का अधिवेशन शुरू हुआ तो दोनों सदनों ने चुनाव में अपनाए गए गन्दे तरीकों के लिए उनकी निन्दा का प्रस्ताव पास किया। मातसूकाता मासायोसी ने पुनः संसद को भंग कर दिया। लेकिन, बाद में उसे भी प्रधानमंत्री का पद छोड़ना पड़ा। तत्पश्चात ईतो हीरोबूमी को इस पद नियुक्त किया गया। मार्च, 1894 में संसद का तीसरा और सितम्बर, 1894 में चौथा चुनाव हुआ। लेकिन, संसद और सरकार के मध्य कभी मेलजोल नहीं हो सका।

इस अशान्त आन्तरिक राजनीति ने जापानी राजनीतिज्ञों का ध्यान विदेशनीति की ओर आकृष्ट किया। यदि जापान आक्रामक नीति का अनुसरण करने लगे तो यह सम्भव था कि देश की राजनीति में कुछ सुधार हो और लोगों का ध्यान देशीय घटनाओं से हटकर विदेशों में लग जाए। अतएव, जापानी अधिकारियों ने उग्र एवं आक्रामक नीति का अवलम्बन करने का निश्चय किया। जापानी साम्राज्यवाद के उद्भव के मूल में देश की आक्रामक विदेश नीति भी थी।

जापान के किसान और मजदूर अपनी स्थिति से बहुत असन्तुष्ट थे। यद्यपि जापान में सामन्तवाद का अन्त हो गया, लेकिन इससे किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ। उलटे उन्हें अपनी भूमि गँवानी पड़ी और जीवनयापन के लिए मजदूरी करनी पड़ी। लेकिन, मजदूरों की दशा अत्यन्त खराब थी। उन्हें अत्यन्त कम मजदूरी दी जाती थी और पन्द्रह-सोलह घण्टों तक काम कराया जाता था। उन्हें गन्दी बस्तियों में रहना पड़ता था और उनकी सुख-सुविधाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। बच्चों से भी चौदह घण्टे काम लिया जाता था और औरतें काफी परेशानी की हालत में काम करती थीं। ज्यादातर औरतें ठेके पर रखी जाती थीं, उन्हें मिल के शयनागारों में सुलाया जाता था और बहुत मामूली-सा वेतन दिया जाता था। इस कारण जापान का मजदूरवर्ग बड़ा असन्तुष्ट था। यद्यपि अभी ट्रेड यूनियन आन्दोलन संगठित नहीं हुआ था, लेकिन औद्योगिक अशान्ति शुरू हो गई थी। इस अशान्ति को दबाने के लिए भी जापान ने साम्राज्यवादी जीवन शुरू करने को आवश्यक माना। साम्राज्यवाद का परिणाम युद्ध होता है और युद्ध की स्थिति में औद्योगिक अशान्ति को आसानी से कुचला जा सकता था। इसके अतिरिक्त, मजदूरों में झूठी राष्ट्रीयता की भावना

4. रूस-जापान युद्ध (1904-5)

[RUSSO-JAPANESE WAR (1904-5)]

रूस की विस्तारवादी नीति—1894-95 के चीन-जापान युद्ध में विजय के फलस्वरूप चीन के मामले में जापान की रुचि अत्यधिक बढ़ गई। उधर चीन की निर्बलता का प्रदर्शन हुआ, जिसने पश्चिमी देशों को चीन की लूट-खसोट की ओर प्रेरित किया। इस कार्य में सबसे अधिक अग्रसर रूस था, जो किसी-न-किसी बहाने तीव्र गति से चीन में प्रसार पर तुला था। रूस की इस लोलुपता से जापान को बड़ी आशंका हुई। ऐसी स्थिति में अपने नए मित्र ब्रिटेन की शक्ति और प्रतिष्ठा से आश्वस्त होकर उसने रूस को चुनौती दी। रूस-जापान युद्ध इसी चुनौती का परिणाम था।

रूस और जापान के बीच कई क्षेत्रों पर प्रभुत्व जमाने के लिए घोर तनातनी चल रही थी। इसमें मंचूरिया और कोरिया को लेकर दोनों में घोर मतभेद उत्पन्न हो गया था और इन्हीं समस्याओं के कारण दोनों के बीच युद्ध छिड़ा।

मंचूरिया का प्रश्न—सर्वप्रथम मंचूरिया की समस्या ने रूस तथा जापान में एक-दूसरे के प्रति घृणा की भावना को जन्म दिया, जिसका अन्तिम नतीजा युद्ध हुआ। चीन का उत्तरी प्रदेश मंचूरिया कहलाता है। आर्थिक साधनों की दृष्टि से यह क्षेत्र बहुत सम्पन्न है। कोयला, लोहा और सोना यहाँ प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। ऐसे क्षेत्र पर प्रभुत्वस्थापन के लिए रूस और जापान के बीच संघर्ष होना स्वाभाविक था।

रूस इस प्रदेश को अपने प्रभावक्षेत्र में लाना चाहता था और इसके पास कई तरह की योजनाएँ थीं। 1900 ई० के बॉक्सर विद्रोह के बाद रूस को इस प्रदेश में अपने प्रभाव विस्तार का अपूर्व अवसर मिला। 1894 के बाद रूस ने चीन का पक्ष लिया था और जापान पर प्रभाव डालकर लियाओतुंग प्रदेश से जापानी अधिकार हटाने के लिए जापान को बाध्य किया था। कुछ समय के बाद रूस और चीन में एक सन्धि हुई। इसके अनुसार रूस को मंचूरिया में ब्लाडीवोस्टोक तक एक हजार मील लम्बी रेल-लाइन बिछाने का अधिकार प्राप्त हुआ। पोर्ट आर्थर और उसके समीप का प्रदेश पचीस वर्ष के लिए रूस को पट्टे पर मिला और यहाँ रूसी सरकार अपने जंगी जहाज सुरक्षित रखने के लिए किलाबन्दी शुरू कर चुकी थी। पोर्ट आर्थर प्रशान्त महासागर में रूस का सबसे बड़ा सैनिक अड्डा बन चुका था, इस कारण इस क्षेत्र में रूस की शक्ति बहुत दृढ़ हो गई थी। मंचूरिया में रेलवे लाइन के निर्माण के लिए दो कम्पनियों का संगठन किया गया था, जिन पर रूस का नियंत्रण था। इन कम्पनियों के लिए धन के इन्तजाम के लिए एक बैंक की स्थापना की गई थी, उस पर भी रूस का ही नियंत्रण था। रेल लाइनों के निर्माण के लिए बहुत-से रूसी मंचूरिया में आ रहे थे। इन लाइनों की रक्षा के लिए रूस की एक विशाल सेना भी इस प्रदेश में रहने लगी थी।

बॉक्सर विद्रोह के उपरान्त रूस ने इस क्षेत्र में अपना शिकंजा और भी मजबूत कर लिया। बॉक्सर विद्रोहियों से रेलवे लाइनों की रक्षा का बहाना बनाकर रूस की सेनाएँ मंचूरिया पहुँचने लगीं और कुछ समय के लिए रूस ने मंचूरिया में अपना सैनिक शासन स्थापित कर लिया। रूस की सरकार का कहना था कि उसके सैनिकों का जमाव मंचूरिया में अस्थायी है और ज्योंही शान्ति-व्यवस्था स्थापित हो जाएगी, रूस अपनी सेना वापस बुला लेगा। लेकिन, बॉक्सर विद्रोह के दबने के बाद भी रूस ने अपनी सेना वापस नहीं बुलाई और मंचूरिया पर अपना सैनिक कब्जा जारी रखा। बॉक्सर विद्रोह के पूर्व मंचूरिया में रूस का केवल आर्थिक प्रभाव था, लेकिन अब वहाँ राजनीतिक और सैनिक प्रभाव भी कायम हो गया।

मंचूरिया में रूस के बढ़ते प्रभाव से जापान बहुत अधिक चिन्तित हो रहा था। वह नहीं चाहता था कि इस क्षेत्र पर रूस का नियंत्रण स्थापित हो जाए। पोर्ट आर्थर में रूस किलेबन्दी कर रहा था। इससे जापान में बड़ी बेचैनी थी। जापान स्वयं मंचूरिया पर अपना अधिकार कायम करना चाहता था। जापानी साम्राज्य के विस्तार के लिए यह बड़ा ही उपयुक्त स्थान था। मंचूरिया के अनेक जिलों में आबादी बहुत कम थी और जापान अपनी बढ़ती हुई आबादी को वहाँ बसाना चाहता था। आर्थिक साधनों में मंचूरिया की प्रचुरता ने भी जापान का ध्यान आकृष्ट किया। चीन-जापान युद्ध के बाद जापान ने लियाओतुंग प्रदेश पर अपना जो अधिकार कायम किया था, उसके पीछे यही स्वार्थ छिपा हुआ था। लेकिन, रूस के विरोध के कारण जापान को शिमोनोसेकी की सन्धि में संशोधन स्वीकार कर इस क्षेत्र पर से अपना आधिपत्य उठाना पड़ा था। जापान इस बात को नहीं भूल सकता था। अतएव, रूस और जापान के बीच मंचूरिया पर प्रभुत्वस्थापन की बात को लेकर युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा था।

1902 ई० की आँग्ल-जापानी सन्धि से घबराकर रूस ने स्वीकार कर लिया कि वह छह-छह महीने के अन्तर में अपनी सारी सेना मंचूरिया से निकाल ले जाएगा। किन्तु, शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि रूस का ऐसा करने का कोई इरादा नहीं है। सेनाएँ हटाने की प्रथम अवस्था एक प्रपंचमात्र थी, क्योंकि रूस ने अपनी सेना मंचूरिया के एक भाग से हटाकर उसके दूसरे भाग में केन्द्रित कर दी। दूसरी अवस्था में, अपनी सेना हटाने के स्थान पर रूस उस प्रान्त को अपने शिकंजे में रखने के उद्देश्य से मंचूरिया में नई-नई सुविधाएँ माँगने लगा। इन माँगों के सम्बन्ध में उसने चीन से स्पष्टीकरण भी माँगा। इन सुविधाओं में से एक सुविधा यह थी कि मंचूरिया से रूस के अतिरिक्त और कोई देश किसी प्रकार का आर्थिक लाभ न उठा सकेगा। अन्य शक्तियों ने रूस की इस माँग का विरोध किया। चीन सभी पश्चिमी शक्तियों से डरता था, अतः वह कुछ भी निश्चय नहीं कर सका। अगस्त, 1903 ई० में मास्को और पोर्ट आर्थर के बीच सीधी रेलवे लाइन बन गई और पूर्वी एशिया के लिए एक रूसी वायसराय की नियुक्ति की गई, जिसका वास्तविक उद्देश्य यह घोषित करना था कि मंचूरिया केवल रूस का एक प्रान्त है। इससे जापान का धैर्य जाता रहा और वह रूस से इस प्रश्न का फैसला करने को तैयार हो गया।

कोरिया में रूस-जापान की मुठभेड़—रूस और जापान के संघर्ष का दूसरा क्षेत्र कोरिया हुआ। चीन-जापान युद्ध के बाद कोरिया पर जापान का प्रभुत्व कायम हो सका था। लेकिन, रूस के हस्तक्षेप से जापान की प्रभुता बहुत हद तक सीमित हो गई। फिर भी जापान ने अपने प्रयास जारी रखे और कोरिया पर अपना पूरा नियंत्रण कायम करने की कोशिश में जुटा रहा। कोरिया का राजा जापानियों के इन प्रयासों का विरोध कर रहा था। ऐसी परिस्थिति में जापानी सैनिकवादियों ने उसकी हत्या कर देने का निश्चय किया। इसलिए एक रात कुछ जापानियों ने राजमहल पर हमला कर दिया। लेकिन, राजा भाग निकला और रूस की सेना ने उसे बचा लिया। इस पर जापान रूस से बड़ा नाराज हुआ।

जून, 1896 में जब यामागाता जार की ताजपोशी में शामिल होने के लिए मास्को गया तो उसने प्रस्ताव किया कि कोरिया को अड़तीसवीं रेखा पर बाँट लिया जाए; उसके उत्तर में रूस का क्षेत्र रहे और दक्षिण में जापान का। लेकिन, रूस सम्पूर्ण कोरिया पर प्रभुत्व जमाने की लालसा रखता था, अतः उसने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और अपनी ओर से यह प्रस्ताव रखा कि दोनों मिलकर कोरिया पर संरक्षता कायम रखें। उस समय रूस और जापान दोनों देशों में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार दोनों ने कोरिया के राजा से शान्ति कायम रखने के प्रयत्नों में साथ देने और उसके मामले में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। लेकिन, रूस की नीयत कभी साफ न थी और वह इस समझौते पर कायम नहीं रहा। उसने कोरिया में सैनिक सलाहकार और सैनिक भेजने शुरू कर दिए, यालू नदी पर लकड़ी काटने की सहूलियत ले ली और तूमेन नदी पर खानें चलाने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इससे जापान में खलबली मच गई। लोग लड़ाई की माँग करने लगे। इस हालत में रूस को दबना पड़ा। 1898 ई० में रूस और जापान के बीच पुनः एक

एक समझौता हुआ जिसमें 1896 ई० की सन्धि पर दोनों ने अपना विश्वास दुहराया और कोरिया की स्वतंत्रता और अखण्डता कायम रखने का वचन दिया। फलतः, रूसी सलाहकार कोरिया से चले गए और सीओल का रूसी-कोरियाई बैंक बन्द कर दिया गया।

लेकिन, रूसी सरकार इस समझौते पर भी कायम नहीं रही। उसने 1899 ई० में यालू नदी पर लकड़ी के ठेके ले लिए और उस पर काम करने के लिए बीस हजार आदमी भेज दिए। इनमें चिराई करनेवालों के रूप में सैनिक भी थे। रूस की इस विस्तारवादी नीति से इंगलैण्ड चौकन्ना हो गया। लेकिन, वह रूस से प्रत्यक्ष युद्ध करना नहीं चाहता था। अतः, उसने जापान से 1902 ई० में एक सन्धि कर उसे रूस के विरुद्ध भड़का दिया।

1902-1903 में रूस ने कोरिया में अपनी कार्यवाही और तेज कर दी। उसने यालू के मुहाने पर एक कोरियाई बन्दरगाह पर कब्जा कर लिया, उत्तरी कोरिया के बन्दरगाहों से मंचूरिया के सैनिक अड्डों तक सड़कें बना लीं तथा तथा तार की लाइनें डाल लीं और सीओल से यालू तक रेल की पटरी बिछाने का ठेका लेने की कोशिश की। जापान ने इसका विरोध किया और जुलाई, 1903 में रूस से एक दूसरी सन्धि का प्रस्ताव किया, जिसके अनुसार चीन और कोरिया की प्रादेशिक अखण्डता का आश्वासन तथा रूस से उन्मुक्त द्वार की नीति पर चलने का वादा माँगा। साथ ही, यह भी प्रस्ताव किया गया कि उक्त सन्धि द्वारा मंचूरिया में रूस के हित तथा कोरिया में जापान के विशेष स्वार्थों की रक्षा की जाए। किन्तु, रूस ने इन्हें को मानने से इनकार कर दिया। मंचूरिया में वह मनमानी करते रहना चाहता था। इस प्रकार, स्पष्ट था कि रूस मंचूरिया पर एकाधिकार चाहता था, किन्तु वह जापान को कोरिया में वही सुविधा देने को तैयार नहीं था। बातचीत जनवरी, 1904 तक चलती रही। 12 जनवरी को जापानी सम्राट् ने आखिरी शर्तें रखीं कि यदि रूस चीन की प्रादेशिक अखण्डता मान ले और मंचूरिया में जापान तथा अन्य देशों के वैद्य कार्यों में बाधा न डाले और कोरिया के जापानी हितों में हस्तक्षेप न करे तो जापान मंचूरिया को अपने प्रभावक्षेत्र से बाहर समझने को तैयार है। जब इनका कोई सन्तोषजनक उत्तर न आया और रूसी फौजें बराबर पूर्व की ओर जमा होती रहीं तो युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

रूस-जापान युद्ध का प्रारम्भ—कोरिया के प्रश्न पर जापान और रूस में जो मतभेद और हित-विरोध था, उसका फैसला युद्ध के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से सम्भव प्रतीत नहीं हो रहा था। जापान ने युद्ध का सहारा लेकर ही इस मामले को तय करने का निश्चय किया। इस बार जापान को कोई भय नहीं था। उसकी सेना भलीभाँति संगठित हो गई थी और संसार के एक महान शक्तिशाली देश ब्रिटेन का वरदहस्त उसे प्राप्त था। 1904 ई० के मध्य दोनों के बीच कूटनीतिक वार्तालाप समाप्त हो गया और 10 फरवरी को रूस-जापान युद्ध प्रारम्भ हो गया। यह एशिया की एक शक्ति और यूरोप की एक महाशक्ति के बीच का प्रथम महान युद्ध था।

युद्ध की घटनाएँ—इस युद्ध की सबसे अनहोनी बात यह थी कि महान यूरोपीय शक्ति की पराजय एक पूर्वी शक्ति द्वारा हुई—वैसी शक्ति जो पच्चीस-तीस वर्ष पहले केवल धनुष-वाणों से युद्ध किया करती थी। जहाँ तक दोनों के आकारों और साधनों का सम्बन्ध था, यह युद्ध वस्तुतः 'बौने' और 'दानव' के बीच था। स्थल युद्ध में तो यही प्रतीत होता था कि एक बौना केवल अपने अदम्य साहस तथा अद्भुत रणकौशल से भारी-भरकम दानव को पछाड़ रहा था। मई, 1904 में नदी पर दोनों पक्षों के बीच भयंकर युद्ध हुआ। जापानियों ने रातोंरात नदी पर पुल बना लिया और पौ फटते ही वे नदी के उस पार पहुँच गए। रूसियों में सन्नाटा छा गया। जापानी 'बान्जाई, बान्जाई' (जय हो, जय हो) का नारा लगाते हुए रूसियों पर टूट पड़े। घमासान लड़ाई हुई, जिसमें जापान को निर्णायक विजय मिली। अगस्त में लियाओतुंग पर नौ दिन तक भीषण युद्ध हुआ। अक्टूबर में दस दिनों तक शा-हो में भयंकर रक्तपात हुआ। पोर्ट आर्थर लम्बे समय तक जापान के घेरे में पड़ा रहा। फरवरी, 1950 में मुकदेन का कठिन युद्ध हुआ। अन्त में, जापानी सफल हुए और रूस को मुकदेन छोड़ना पड़ा। मंचूरिया ने भी जापान का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। मुकदेन की विजय के पश्चात स्थल पर कोई युद्ध नहीं हुआ, क्योंकि जापान का साधनस्रोत कम हो गया था और रूस की हिम्मत पस्त हो चुकी थी।

रूस और जापान के युद्ध का निर्णायक मोर्चा समुद्र की मार था। रूस के जहाजी बेड़े प्रशान्त महासागर में मौजूद थे, जिनमें एक पोर्ट आर्थर और दूसरा ब्लाडीवोस्टोक में लंगर डाले हुए था। जापान किसी तरह इन बेड़ों को अलग-अलग रखना चाहता था और इस उद्देश्य की पूर्ति में उसे सफलता भी मिली। अक्टूबर, 1904 में रूस का बाल्टिक सागर का जहाजी बेड़ा पूर्व की ओर चल पड़ा। इंगलैण्ड द्वारा स्वेज नहर का रास्ता बन्द कर दिए जाने पर इसके पैंतालीस जहाज अफ्रीका का चक्कर काटकर 27 मई, 1905 की त्सूशीमा के

समुद्र में घुस गए, वहाँ एडमिरल तोगो के जंगी जहाजों ने उनका डटकर मुकाबला किया और दो दिनों में रूस के बत्तीस जहाज डुबो दिए और दो जहाजों तथा एक बमवर्षक पर कब्जा कर लिया। केवल चार जहाज ब्लाडीवोस्टोक पहुँच सके; शेष जहाजों ने तटस्थ देशों के बन्दरगाहों में शरण ली। अठारह हजार रूसी नाविकों में से बारह हजार की जानें गईं। जापान के केवल एक सौ छत्तीस आदमी मारे गए। रूसियों की सैन्यशक्ति चकनाचूर हो गई। अब युद्ध का अन्त निकट हो गया।

अमरीकी राष्ट्रपति की मध्यस्थता—हालाँकि जापानी नेता सफलताओं का सेहरा बाँधते जा रहे थे, पर वे सन्धि के लिए उतावले थे। भूमि पर सैनिक सफलताओं तथा रूसी नौसैनिक शक्ति को विनष्ट करने के बाद भी जापान रूस की स्थलसेनाओं को नष्ट नहीं कर सका। हर विजय के कारण जापानी सेनाएँ अपने मुख्य आधार से दूर होती जाती थीं। जापान में युद्ध के कारण देश की अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक बोझ पड़ रहा था। रूस के साथ भी कई दिक्कतें थीं। युद्ध लम्बा खिंचने पर रूस की सैनिक स्थिति में सुधार कुछ अवश्य हो रहा था, परन्तु उसके समक्ष भी आर्थिक कठिनाई उपस्थित हुई। इसके अतिरिक्त, देश के भीतर विद्रोह की तैयारी भी हो रही थी। इसके बावजूद औपचारिक रूप से जापान ने ही पहले शान्ति के लिए प्रस्ताव रखा। 3 मई, 1905 को उसने अमीरीकी राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट से मध्यस्थ बनने को कहा। रूजवेल्ट ने 6 जून को रूस के जार को जो पत्र भेजा, वह स्वीकार कर लिया गया और दो दिनों के बाद अमेरिका ने दोनों विरोधियों को अपनी ओर से मध्यस्थता का प्रस्ताव पेश करते हुए वार्ता के लिए आमंत्रित किया। प्रस्ताव दोनों देशों ने स्वीकार कर लिया। 10 अगस्त को अमेरिका के न्यू हेम्पशायर प्रदेश में पोर्ट्समाउथ नामक स्थान पर जापानी विदेशमंत्री कोमूरा जूतारो और रूसी प्रतिनिधि वीटे के बीच सन्धि की वार्ता हुई और सन्धि हो गई। इसे पोर्ट्समाउथ की सन्धि कहते हैं।

पोर्ट्समाउथ की सन्धि—5 सितम्बर, 1905 को पोर्ट्समाउथ में हुई सन्धि पूर्वी एशिया के आधुनिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण सन्धि थी। इस सन्धि के अनुसार निम्नलिखित बातें तय की गईं—

(1) कोरिया में जापान के प्रमुख राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक हितों को मान्यता दी गई। (2) मंचूरिया को एकदम रूस और जापान दोनों ने खाली करना स्वीकार कर लिया। (3) रूस ने जापान को लियाओतुंग प्रायद्वीप का पट्टा सौंप दिया और वहाँ की रेलों और खानों का अधिकार दे दिया। (4) रूस ने जापान को साखालिन का आधा दक्षिणी भाग दे दिया। (5) रूस ने जापान को इन द्वीपों के उत्तर और पश्चिम के समुद्र में मछली पकड़ने का हक दे दिया। (6) रूस और जापान दोनों ने एक-दूसरे को युद्धबन्दियों का खर्चा देना मान लिया और इससे जापान को करीब दो करोड़ डालर का लाभ हुआ। (7) रूस और जापान दोनों को मंचूरिया में हथियारबन्द रेलवे रक्षक रखने का हक मिला। (8) रूस और जापान दोनों ने साखालिन द्वीप की किलेबन्दी न करने और मंचूरिया की रेलवे को सैनिक काम में न लाने की पाबन्दी स्वीकार कर ली। (9) रूस और जापान दोनों ने पट्टे की भूमि को छोड़कर मंचूरिया में चीनी प्रभुत्व का सम्मान करने का वचन दिया और वहाम के द्वार सभी देशों के व्यापार और उद्योगों के लिए खुले रखने की तत्परता प्रकट की।

जापान की नाराजगी—जापान ने युद्ध में अपना सर्वस्व दाँव पर लगा दिया था और उसे कई शानदार विजयें भी मिली थीं। लेकिन, इसके अनुपात में जापान को कोई लाभ नहीं हुआ। उसे न तो विशेष प्रादेशिक लाभ हुआ और न युद्ध में खर्च की गई रकम ही रूस से युद्ध के हर्जाने के रूप में वापस मिल सकी। इससे जापान में क्रोध का समुद्र उमड़ पड़ा और दंगे शुरू हो गए। सैनिक कानून की घोषणा कर देने के बावजूद लोगों ने डेढ़ सौ के लगभग पुलिस चौकियाँ, वरिष्ठ अधिकारियों के लगभग चालीस घर और दस ईसाई गिरजे जला दिए और हजार से ज्यादा आदमियों को—जिनमें अधिकतर पुलिस कर्मचारी थे—मार डाला या घायल कर दिया। अन्त में, जनवरी, 1906 में प्रधानमंत्री कातसूरा के मंत्रिमण्डल को इस्तीफा देना पड़ा।

रूस-जापान युद्ध के परिणाम और महत्त्व

जापान के लिए युद्ध का महत्त्व—यद्यपि जापानी जनता युद्ध के परिणाम से सन्तुष्ट न थी, पर उनके देश के इतिहास में यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई। जापानी साम्राज्यवाद के विकास के इतिहास में इस युद्ध को अद्वितीय स्थान दिया जा सकता है। जापान के लिए युद्ध जिन्दगी और मौत का सवाल था। यदि जापान हार गया होता तो उसकी समस्त महत्त्वाकांक्षाएँ, उसकी समस्त पूर्वकालिक सफलताएँ और

उसकी समस्त नीति जहाँ-की-तहाँ रह जातीं। युद्ध में जापान ने अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया था और इसी कारण वह विजयी भी रहा, जिसके फलस्वरूप अब उसकी गणना संसार के महान राष्ट्रों में होने लगी। लेकिन, जापान को अपनी सफलताओं के अनुरूप लाभ नहीं हुआ। फिर भी, जापान के नेता समझते थे कि उनके मार्ग में अनेक बाधाएँ थीं। वे जानते थे कि जापान को एक महान शक्ति का सामना करना पड़ा और उसमें उन्होंने जमकर लोहा लिया है। जापान ने साहस, युद्धकौशल, एकाग्रचित्तता और धैर्य आदि गुणों के कारण निस्सन्देह विजयें प्राप्त की थीं, जिनके कारण उसका गर्वोन्मत्त हो जाना स्वाभाविक था। जापान के उत्साह और सामरिक श्रेष्ठता का प्रदर्शन संसार में हो चुका था। उसका सबसे घृणित दुश्मन हारकर अपमानित हो चुका था। रूस बिलकुल पस्त हो गया था। वहाँ आन्तरिक कलह उत्पन्न हो रहा था और राजनीतिक क्रांति की तैयारी हो रही थी। जापान अपने दुश्मन की दुर्दशा से बहुत खुश था।

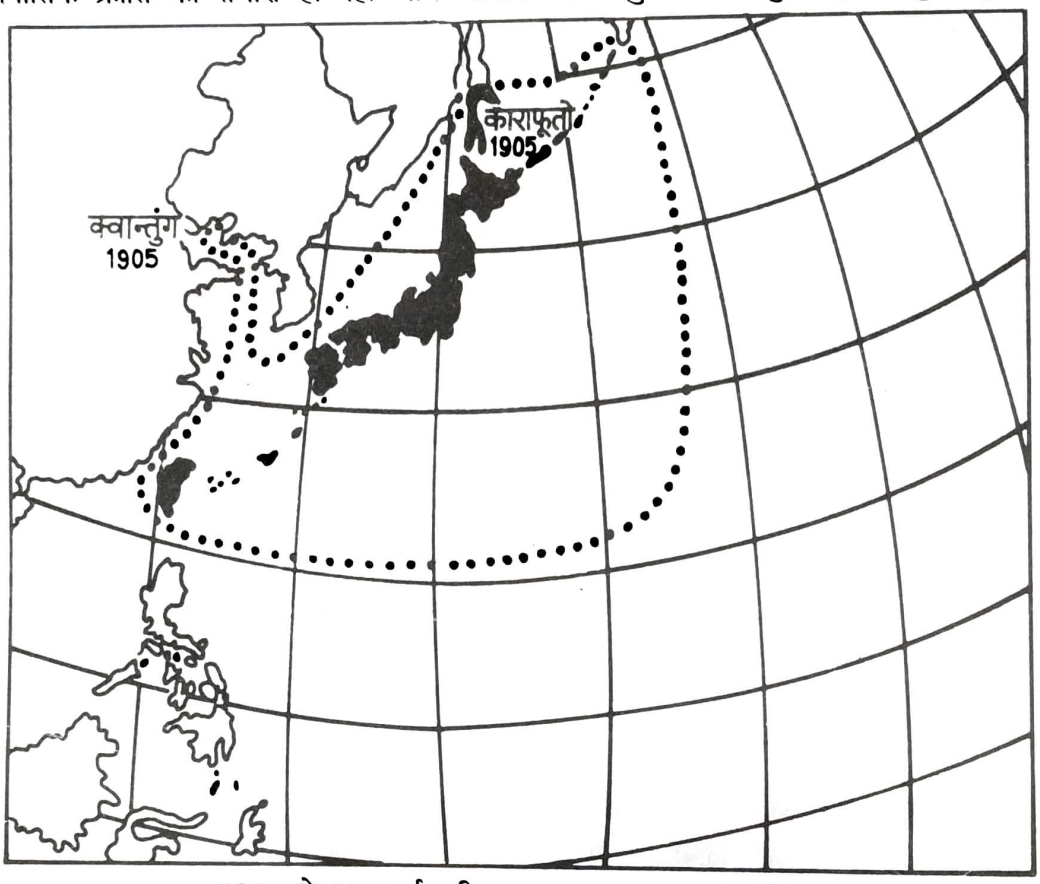

1905 से 1909 ई० बीच जापान का साम्राज्यवादी प्रसार

[1904 ई० में कोरिया और मंचूरिया पर प्रभुत्वस्थापन के लिए रूस और जापान में युद्ध हुआ, जिसका अन्त 1905 ई० में पोर्ट्समाउथ की सन्धि से हुआ। इस सन्धि के अनुसार रूस ने कोरिया में जापान का अधिकार स्वीकार कर लिया और उसे लियाओतुंग का पट्टा एवं पोर्ट आर्थर का बन्दरगाह भी दे दिया। रूस ने साखालिन का दक्षिणी आधा भाग भी जापान को दे दिया और मंचूरिया को खाली करना स्वीकार कर लिया। इसी क्रम में 1905 ई० में क्वातुंग और काराफूतो पर भी जापान का अधिकार स्थापित हुआ।

22 दिसम्बर, 1905 को रूस और जापान में पिकिंग की सन्धि हुई। इस सन्धि ने उक्त व्यवस्था की पुष्टि की। जुलाई, 1907 में इन दोनों देशों में एक तीसरी सन्धि हुई, जिसके अनुसार चीन के प्रदेशों में अपना अलग-अलग प्रभावक्षेत्र कायम करने का गुप्त समझौता हुआ। 1909 ई० तक जापान के ये सारे लाभ सुदृढ़ हो गए।]

रूस की पराजय से जापानी साम्राज्यवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। पूर्वी एशिया की राजनीति में वह एक कदम और आगे बढ़ गया। जापान किसी तरह चीन तक पहुँचना चाहता था। इसी उद्देश्य से 1894 ई० में उसने चीन के साथ युद्ध किया था। इस युद्ध में उसे अपनी उद्देश्यपूर्ति में पूरी सफलता मिली थी। लेकिन, उस समय तीनों राज्यों के हस्तक्षेप के कारण उसके सारे किए-कराए पर पानी फिर गया था। रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय से इस क्षति की पूर्ति हो गई। इस कारण जापान को चीनी क्षेत्र में घुस जाने का अच्छा अवसर मिल गया। जापान को इस युद्ध से इतने लाभ हुए थे, जिनकी कल्पना उसने स्वयं नहीं की थी। इसके फलस्वरूप, पूर्वी एशिया में रूस का विस्तार रुक गया। मंचूरिया पर उसका नाम-मात्र का अधिकार रहा। युद्ध में जापान ने सिद्ध कर दिया कि वह संसार का एक शक्तिशाली राज्य है।

इसी आधार पर उसने ब्रिटेन से अनुरोध किया कि आँग्ल-जापानी सन्धि में ऐसे संशोधन किए जाएँ, जिससे जापान को कुछ अधिक लाभ हो। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि कोरिया पर से रूस के प्रभाव का अन्त हो गया। अब जापान कोरिया में अपने इच्छानुसार काम कर सकता था। मौका पाकर 1910 ई० में उसने कोरिया को अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया। इस प्रकार, कोरिया को जापानी साम्राज्य में सम्मिलित करने के कार्य में रूस-जापान युद्ध से बड़ी सहूलियत मिली। समूचे संसार में, विशेषकर पूर्वी एशिया में, उसकी ख्याति बढ़ गई। जापान का उत्साह बहुत बढ़ा और युद्ध में विजय के उपरान्त उसने उग्र साम्राज्यवादी जीवन अपनाया, जिसके फलस्वरूप उसका विशाल साम्राज्य कायम हुआ।

चीन पर प्रभाव—रूस-जापान युद्ध का प्रभाव अत्यन्त व्यापक था। चीन की राजनीति पर दो तरह से इसका प्रभाव पड़ा। चीन में जिस तरह साम्राज्यवादी राज्यों के बीच होड़ चल रही थी उसे लेकर साम्राज्यवादी राज्यों में संघर्ष छिड़ जाने की पूरी सम्भावना हो गई थी। रूस और जापान के युद्ध के कारण यह तथ्य स्पष्ट हो गया। साम्राज्यवादी राज्य ऐसे संघर्ष से बचना चाहते थे। वे चीन का शोषण परस्पर मिल-जुलकर करना चाहते थे। अतएव, इसके लिए उन्होंने यह निर्णय किया कि चीन में उन्मुक्त द्वार की नीति का सहारा लिया जाए। इस प्रकार, रूस-जापान युद्ध ने चीन में 'उन्मुक्त द्वार की नीति' को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया।

रूस-जापान युद्ध से चीन में नवजागरण का भी सूत्रपात हुआ। 1894 ई० में चीन-जापान युद्ध तथा उसके बाद चीन में प्रभावक्षेत्र कायम करने की अन्तरराष्ट्रीय होड़ के प्रतिक्रियात्मक चीन में बॉक्सर-विद्रोह हुआ था। लेकिन, 1904-5 के रूस-जापान युद्ध ने 1911 ई० की चीनी क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। चीन के देशभक्तों के लिए रूस-जापान युद्ध की गतिविधि एक बहुत बड़ी शिक्षा थी। इस युद्ध में एक विशाल देश को एक अत्यन्त छोटे-से देश ने हरा दिया था। ऐसा इसलिए सम्भव हो सका था कि जापान ने समय की गति पहचानकर अपना आधुनिकीकरण किया था। इस हालत में चीन के लोग भी अपने देश को जापान की तरह उन्नत और शक्तिशाली राज्य बनाने की बात सोचने लगे। चीन के देशभक्त अपने देश में नवयुग लाना चाहते थे। यह तभी सम्भव था, जब चीन से मंचू राजवंश का अन्त हो। इसके लिए चीन में एक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ और इस प्रकार 1911 ई० की क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार हुई। जापान में रहनेवाले चीनियों ने अगस्त, 1905 में थुंग-मेंग हुई नाम की संस्था बनाई। इसके प्रधान नेता डॉ० सनयात सेन थे। इन्होंने सुधारवादियों के 'धीरे चलो' नीति का खण्डन किया और सशक्त क्रान्ति की माँग की। जैसा कि हम आगे चलकर चीन के प्रसंग में देखेंगे, इस आन्दोलन के फलस्वरूप चीन में 1911 ई० में मंचू शासन का अन्त और चीनी गणतंत्र का अभ्युदय हुआ। उस समय जापान चीनी क्रान्तिकारियों का गढ़ था और उनकी रीति-नीति से उन्हें स्पन्दन तथा उद्‌बोधन मिलता था।

रूस पर रूस-जापान युद्ध का प्रभाव—रूस-जापान युद्ध का प्रभाव रूस की आन्तरिक राजनीति पर भी पड़ा। उस समय रूस में जारशाही की स्वेच्छाचारिता के खिलाफ आग सुलग रही थी। इसी बीच रूस और जापान का युद्ध हुआ, जिसमें रूस हार गया। इसका एक कारण यह था कि इस युद्ध को रूस की जनता का समर्थन प्राप्त नहीं था। उस समय रूस की जनता के समक्ष रोटी और राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रश्न था। विशाल रूसी साम्राज्य में कुछ और प्रदेश शामिल हो जाएँ, इस बात में रूसियों की कोई दिलचस्पी न थी। रूस में बहुत ऐसे लोग भी थे, जो शत्रु-देश जापान के प्रति सहानुभूति रखते थे और जब वे रूस की पराजय का समाचार सुनते थे तो भीतर ही-भीतर बहुत प्रसन्न होते थे। जनता के समर्थन के अभाव में किसी युद्ध का जीतना असम्भव होता है।

इसके अतिरिक्त, रूस की सरकार की हालत बहुत खराब हो चली थी। उसके प्रायः सभी कर्मचारी बेईमान तथा भ्रष्ट थे। वे सेना को उचित सामान या हथियार नहीं पहुँचा सकते थे। रूस का राष्ट्रीय पतन इस हद तक पहुँच गया था कि विदेशी युद्ध में उसका हारना अनिवार्य था। इस तरह, रूस हार गया। इस पराजय से स्वेच्छाचारी जारशाही की कमजोरी प्रकट हो गई। जनता को स्वतंत्र होने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया। रूस में विद्रोह हो गया। 'युद्ध समाप्त करो', 'एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का विनाश हो' के नारों से रूस की गलियाँ गूँज उठीं। 1905 ई० की रूसी क्रांति; रविवार, 26 जनवरी का भीषण हत्याकाण्ड; ड्यूमा की स्थापना; रूस में वैध राजसत्ता कायम करने का विफल प्रयत्न—सभी रूस-जापान युद्ध के ही परिणाम माने जा सकते हैं।

यूरोपीय कूटनीति पर प्रभाव—रूस की विदेश नीति तथा यूरोप की कूटनीतिक स्थिति पर भी रूस-जापान युद्ध का प्रभाव पड़ा। क्रीमिया युद्ध (1853-1856) में हारने के बाद रूस पूर्वी एशिया में

अपने विस्तार की योजना बना रहा था। इस योजना में उसे काफी सफलता भी मिल रही थी। लेकिन, रूस की यह सफलता ब्रिटेन और जापान के लिए सरदर्द बन रही थी। इसी कारण रूस और जापान के बीच युद्ध हुआ। हारने के बाद रूस ने यह अनुभव किया कि पूर्वी देशों में उसकी दाल नहीं गलेगी। अतएव, इस क्षेत्र से वह अपना कूटनीतिक जाल समेटकर निकटपूर्व तथा बाल्कन प्रायद्वीप में फैलाने लगा। इसके फलस्वरूप, 1905 ई० के बाद रूस की सारी साम्राज्यवादी कूटनीति बाल्कन प्रायद्वीप में केन्द्रित हो गई। यूरोपीय शान्ति के लिए यह बड़ी ही खतरनाक बात सिद्ध हुई। इस क्षेत्र में रूस के पुनः प्रवेश से यहाँ की राजनीति अत्यन्त गम्भीर हो गई और तरह-तरह के अन्तरराष्ट्रीय संकट पैदा होने लगे। इस दृष्टिकोण से यह कहना अनुचित न होगा कि 1908 ई० का बोस्निया संकट और 1912-13 के बाल्कन युद्ध रूस-जापान युद्ध के यूरोपीय परिणाम थे।

एक दूसरी तरह भी रूस-जापान युद्ध ने यूरोपीय कूटनीति को प्रभावित किया। यूरोप में यह गुटबन्दियों का युग था। वहाँ के महान राज्य गुप्त सन्धियाँ कर अपने-अपने गुटों का निर्माण कर रहे थे। जर्मनी ने इटली और आस्ट्रिया को मिलाकर अपना त्रिगुट बनाया था। इसके मुकाबले फ्रांस और रूस का 1894 ई० में एक द्विगुट बना। 1904 ई० में फ्रांस और इंगलैण्ड भी परस्पर मित्र बन गए। रूस-जापान युद्ध के समय ऐसा प्रतीत हुआ कि फ्रांस और इंगलैण्ड की यह मित्रता टूट जाएगी; क्योंकि इंगलैण्ड जापान का पक्ष ले रहा था और फ्रांस के लिए रूस का समर्थन करना आवश्यक था। इधर फ्रांस इंगलैण्ड और रूस दोनों का मित्र था। ऐसी स्थिति में एक विचित्र कूटनीतिक परिस्थिति पैदा हो गई और फ्रांस ने इस विचित्रता का अन्त कराने के लिए अपने दोनों मित्रों को मिलाने का यत्न किया। इसके फलस्वरूप, 1907 ई० में इंगलैण्ड और रूस के मध्य एक सन्धि हुई। बाद में यह सन्धि फ्रांस, इंगलैण्ड तथा रूस को मिलाकर एक दूसरे त्रिगुट में परिवर्तित हो गई। इस प्रकार, यूरोप में दो त्रिगुट कायम हो गए जो एक-दूसरे के विरोधी थे। इन दोनों गुटों में खूब खींचातानी हुई जिससे यूरोप का कूटनीतिक वातावरण अत्यन्त अशान्त हो गया। कई अन्तरराष्ट्रीय संकट पैदा हुए और प्रथम विश्वयुद्ध अवश्यम्भावी हो गया। इस प्रकार, रूस-जापान युद्ध कई तरह से प्रथम विश्वयुद्ध के विस्फोट के लिए जिम्मेवार सिद्ध हुआ।

एशियाई राष्ट्रवाद पर प्रभाव—रूस की पराजय और जापान की विजय ने एशिया के लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का अद्‌भुत संचार किया। उन्नीसवीं शताब्दी के खत्म होते-होते एशिया के प्रायः सभी देश यूरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल में फँस गए। यह 'श्वेत लोगों के बोझ' (white men's burden) का युग था।[1] एशिया के लोगों में भी यह हीन भावना समा गई थी कि उनकी पराधीनता 'ईश्वर की इच्छा' है, 'यूरोप के देश अजेय हैं और उन्हें किसी हालत में पराजित नहीं किया जा सकता है।' किन्तु, जापान की विजय ने यह अन्धविश्वास दूर कर दिया और एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद की मानसिक नींव बुरी तरह हिल गई।यदि जापान यूरोप के ज्ञान-विज्ञान को अपना कर रूस जैसे शक्तिशाली और विशाल देश को परास्त कर सकता है तो एशिया की अन्य जातियों के लिए भी यह सम्भव है कि वे पाश्चात्य देशों की अधीनता से मुक्त होकर अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सकें। भारत आदि सभी एशियाई देशों पर जापान की इस विजय का असर हुआ और सर्वत्र जनता को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए बल मिला। मिस्र के राष्ट्रवादी नेता मुस्तफा कामिल ने अरबी में 'उदीयमान सूर्य' नामक पुस्तक में इस घटना का वर्णन किया है कि कैसे एक एशियाई देश ने अपनी जीवनपद्धति सुधार कर एक शक्तिशाली यूरोपीय राज्य को परास्त किया है। तुर्की में दो सरकारी अफसरों ने पाँच जिल्दों के एक ग्रन्थ में रूस-जापान युद्ध का वर्णन किया। बुखारा में अब्दुर्रऊफ फितरत ने जापानी विजय की विस्तृत चर्चा की। इस प्रकार, एशिया में हर जगह स्वाभिमान, आत्मगौरव और राष्ट्रीय उत्थान का स्वर गूँजने लगा। 'एशिया एशियावालों का है', यह नारा उठने लगा। यह एशिया पर यूरोप के औपनिवेशिक आधिपत्य के अन्त का प्रारम्भ था।

भारत पर प्रभाव—भारत पर रूस-जापान के युद्ध का विशेष प्रभाव पड़ा। कहा जाता है कि रूस-जापान-युद्ध में जापान की विजय ने निराश भारतीयों में अपूर्व उत्साह का संचार किया। भारत के राष्ट्रवादी सोचने लगे कि मातृभूमि की मुक्ति के लिए जापानी तरीकों का प्रयोग अत्यन्त लाभदायक रहेगा। जापान की विजय की चर्चा गाँवों और कस्बों तक के लोगों में होने लगी और देश के एक कोने से दूसरे

---

1. यह रुडयार्ड किपलिंग द्वारा प्रतिपादित प्रसिद्ध सिद्धान्त था। इसमें उसने कहा था कि पृथ्वी के विभिन्न भागों में बसे हुए असभ्य, अर्द्धनग्न तथा पिछड़े लोगों के बीच उत्कृष्ट सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार कर उनका उद्धार करना तथा उन्हें ऊँचा उठाना यूरोपीय लोगों का कर्तव्य है। किपलिंग ने यह तर्क उपस्थित किया कि काले लोगों को सभ्य बनाना गोरे लोगों का महान उत्तरदायित्व है। असभ्य अश्वेत लोग गोरों के सिर के बोझ हैं।

कोने तक इसकी खुशी मनाई गई। भारत में जापान की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई एवं भारतीय विद्यार्थियों तथा यात्रियों का जापान में ताँता लग गया। 1898 ई० में जापान के विश्वविद्यालयों में केवल दो भारतीय विद्यार्थी थे। 1906 ई० में यह संख्या साठ हो गई। 'एक भाई एशियाई देश' की शिक्षण सस्थाएँ पाश्चात्य संस्थाओं से उत्कृष्ट मानी जाने लगीं। 'इण्डियन रिव्यू' के सम्पादक ने जापान की विजय पर एक बड़ी ही अच्छी टिप्पणी लिखी और गोखले जैसे नेताओं ने जापान की भूरि-भूरि प्रशंसा की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जापानियों की वीरता और राष्ट्रीयता के विषय में तीन कविताएँ लिखीं, जो 1906 ई० में उनके पत्र 'भण्डार' में छपीं। ये बँगला कविताएँ जापानी छन्दों में थीं। इनमें से पहली में जापान को पूर्व के पक्षी के रूप में प्रस्तुत किया गया जो रात्रि बीतने पर पूर्वदिशा के स्वर्णविहान का अभिनन्दन करता है। 1905 ई० के इर्दगिर्द भारतीय राजनीति में उग्रवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन के उदय, तिलक जैसे उग्रवादी नेताओं की लोकप्रियता, बंगभंग आन्दोलन तथा स्वदेशी आन्दोलन को जापान की विजय से पर्याप्त प्रेरणा मिली थी। उस समय के राष्ट्रवादी भारतीयों की मनोवृत्ति का परिचय हमें पण्डित जवाहरलाल नेहरू की 'आत्मकथा' में मिलता है। नेहरू ने लिखा है—"प्रतिदिन मैं समाचारपत्रों की प्रतीक्षा बड़ी व्यग्रता से किया करता था। जापान की विजय का समाचार सुनकर मैं खुशी से ओतप्रोत हो जाता था और बराबर यही सोचा करता था कि यूरोप के चंगुल से एशिया और भारत को मुक्त करने के लिए किस तरह मैं हाथ में तलवार लेकर लड़ूँगा।"

एशियाई एकता आन्दोलन पर प्रभाव—जिस समय एशिया के देशों पर यूरोपीय देशों का प्रभुत्व कायम हुआ, उस समय से साम्राज्यवादी देशों ने एक नई अनोखी नीति का अवलम्बन करना शुरू किया। एशिया के पराधीन देशों के लोग आपस में मिलजुलकर विचारों का आदान-प्रदान नहीं कर सकें और उनमें एकता की भावना न आवे, इसके लिए उन्होंने कई उपाय कर डाले थे। लेकिन, युद्ध में जापान की विजय ने इस दीवार को तोड़ दिया। एशिया के लोगों में एकता की अपूर्व भावना जागरित हुई। एशियाई देशों को संगठित करने का एक सशक्त आन्दोलन चल पड़ा और जापान इसका नेता बना। एशिया के सभी देश उसे मुक्तिदाता और उद्धारक के रूप में देखने लगे। जापान के नेता काउण्ट ओकूमा ने एशियाई राष्ट्रवाद का नारा दिया। तब से यह आन्दोलन लगातार चलता रहा और पश्चिम के विरुद्ध एशियाई देशों को संगठित करने के कई प्रयास हुए। 1948 ई० में नई दिल्ली में एशियाई देशों का जो सम्मेलन हुआ, उसमें इस बात को स्वीकार किया गया कि एशिया के जागरण में रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। इस प्रकार, रूस पर जापान की विजय आधुनिक इतिहास का एक युगान्तरकारी मोड़ बन गई, जहाँ से यूरोपीय प्रभुत्व का ह्रास और एशिया के उत्थान का प्रारम्भ होता है।

5. 1919 ई० तक जापान का साम्राज्यवादी प्रसार

पिकिंग की सन्धि—रूस-जापान युद्ध में विजय ने जापान को पागल बना दिया। सारे देश पर सैनिकवाद का उन्माद और प्रसारवाद का भूत सवार हो गया। जापान का हौसला बड़ा बुलन्द था और 1906 ई० से वह आगे की तैयारी करने लगा तथा 1919 ई० तक उसके साम्राज्य के प्रसार में और अधिक वृद्धि हुई। पोर्ट्स माउथ की सन्धि के बाद जापान ने दक्षिणी मंचूरिया मे रूस से जो अधिकार प्राप्त किए, उनकी पुष्टि के लिए चीन से 22 दिसम्बर, 1905 को एक सन्धि की, जिसे पिकिंग की सन्धि कहते हैं। इसके अनुसार चीन ने मंचूरिया के सोलह नगर अन्तरराष्ट्रीय निवास और व्यापार के लिए उन्मुक्त कर दिए। जापान को कोरिया-सीमा के आन्तुंग और मुकदेन के बीच अपने बनाए हुए सैनिक रेलमार्ग को अपने अधिकार में रखने का अधिकार मिल गया। यालू नदी के किनारे के जंगलों से माल तैयार करने के लिए एक चीनी-जापानी निगम बनाने की व्यवस्था की गई। 1906 में जापानी सरकार ने मंचूरिया में जापानी उद्योगों तथा रेल-सड़कों के प्रबन्ध के लिए दक्षिणी मंचूरिया रेलवे कम्पनी बनाई। इसने अनेक उद्योग-धन्धों को बढ़ावा दिया। इससे दक्षिणी मंचूरिया में जापान के हित गहरे और मजबूत हो गए।

रूस-जापान समझौता—जापानी सरकार की अब यह इच्छा हुई कि रूस मंचूरिया में उसके हितों को मान्यता दे। रूस भी चाहता था कि उत्तरी मंचूरिया में उसके स्वार्थ को जापान स्वीकार कर ले। दोनों देश पुराना तनाव मिटाना आवश्यक समझते थे। इस कारण दोनों के मध्य वार्ता शुरू हुई और जुलाई, 1907 में रूस और जापान के बीच एक सन्धि हो गई। सार्वजनिक रूप से हुए इस समझौते में सदैव की भाँति 'चीन के साम्राज्य की स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखण्डता' का समर्थन किया गया और प्रतिज्ञा की गई कि "यथास्थिति की रक्षा तथा इस स्थिति का समादर करने क लिए हर सम्भव शान्तिपूर्ण उपाय अपनाए जाएँगे।" लेकिन,

तक चलती रही।

प्रथम विश्वयुद्ध और जापानी साम्राज्यवाद—कोरिया को जापानी साम्राज्य में मिलाने के उपरान्त जापान विजय की अन्य योजनाएँ बनाता रहा। 1814 ई० के पूर्व तक उसने आधुनिक शस्त्रों से सुसज्जित दस लाख व्यक्तियों की एक विशाल सेना का संगठन कर लिया था और उसके पास एक विशाल जहाजी बेड़ा भी हो गया था। 1911 ई० में आँग्ल-जापानी सन्धि को फिर दुहराया गया और दोनों देशों ने पूर्वी एशिया में अपने स्वार्थों के रक्षार्थ परस्पर सहयोग करने का निश्चय किया और इसके लिए युद्ध की स्थिति में एक-दूसरे को सहयोग और समर्थनं देने का वचन दिया।

4 अगस्त, 1914 को यूरोप में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया। ब्रिटेन ने जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। उसी दिन टोकियो स्थित अँगरेजी राजदूत ने पूर्वी एशिया में युद्ध छिड़ जाने की दशा में जापान के सहयोग के आश्वासन की कामना की। जापान में पहले से ही जर्मनी विरोधी भावना जोर पकड़ रही थी। अतएव, जापान ने अपने साम्राज्य के प्रसार के लिए इस मौके से लाभ उठाने का निश्चय किया। चीन के शान्तुंग और क्याऊ चाऊ प्रदेश पर 1898 ई० में जर्मनी का अधिकार हुआ था। उस वर्ष चीन को एक सन्धि स्वीकार करनी पड़ी थी, जिसके अनुसार चीन में क्याऊ चाऊ खाड़ी के समुद्र तट पर दो सौ वर्गमील का प्रदेश 99 वर्ष के पट्टे पर जर्मनी को दिया गया और इसमें जर्मनी को किलेबन्दी करने, रेलमार्ग बनाने,

रेलमार्ग के समीप खानों से माल निकालने के विशेषाधिकार प्रदान किए गए थे तथा प्रशान्त महासागर में यह जर्मनी का महत्त्वपूर्ण नौसैनिक केन्द्र बन गया था।

पूर्वी एशिया में जर्मनी का प्रभाव नष्ट करने और अपनी स्थिति मजबूत करने के उद्देश्य से 8 अगस्त, 1914 को जापानी मंत्रिमण्डल ने निश्चय किया कि जर्मनी से यह माँग की जाए कि वह जापान को एशियाई समुद्रवाले सब जहाज सौंप दे और उसे क्याऊ चाऊ का पट्टा और शान्तुंग प्रान्त में अपने अधिकार दे दे। 15 अगस्त को जर्मनी को इस आशय की चेतावनी भी दी गई। जर्मनी के कोई उत्तर न देने पर जापान ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 27 अगस्त को जापान ने त्सिंगताओ का घेरा डाल दिया और 2 सितम्बर को त्सिंगताओ में त्सीनान तक के रेलमार्ग पर कब्जा करने के लिए अपनी फौजें उतार दीं। अक्टूबर के आखिरी दिन जापानियों ने हर तरफ से धावा बोल दिया। 10 नवम्बर को क्याऊ चाऊ का पतन हो गया और जापान ने न केवल पट्टे पर दिए गए प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए कदम उठाए, बल्कि त्सिंगताओ-त्सीनान रेलवे सहित शान्तुंग में अन्य सभी जर्मन हितों को भी अपने अधिकार में लेने की कार्यवाही की। सैनिक आवश्यकता के नाम पर जापान ने पट्टेदारी की भूमि के बाहर के रेलमार्ग की पहरेदारी का अधिकार भी चीन से ले लिया। वस्तुतः, इस क्षेत्र से जर्मन प्रभाव का पूर्णतया सफाया कर दिया गया। सारा शान्तुंग प्रदेश जापान के कब्जे में आ गया।

एक ओर जापान के स्थल और जल सैनिक त्सिंगताओ को तथा शान्तुंग में जर्मनी के अन्य हितों को अपने अधिकार में लेने का कार्य कर रहे थे, दूसरी ओर जापानी नौ-सेना के दल प्रशान्त और हिन्द महासागर में ब्रिटेन के नौ-सैनिकों के साथ मिलकर जर्मनी के विरुद्ध सक्रिय थे। जापानी जंगी जहाजों ने भूमध्य-रेखा के उत्तर में मारियाना, केलोरीन तथा मार्शल द्वीपों पर अधिकार कर लिया। 1917 ई० में जापान ने अपने विध्वंसक दस्ते भूमध्यसागर में भी भेजे। उस समय आस्ट्रेलिया से दक्षिणी अफ्रीका तक का सारा समुद्र जापानी जलरक्षकों की देखरेख में था।

इन सारी उपलब्धियों को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए जापान कूटनीतिक स्तर पर सक्रिय था। फरवरी, 1917 में जापान और ब्रिटेन के बीच एक गुप्त सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार जापान ने ब्रिटेन से यह आश्वासन प्राप्त कर लिया कि युद्धोपरान्त वह शान्तुंग प्रदेश तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपों पर जापानी अधिकार का समर्थन करेगा। इस प्रकार, प्रथम विश्वयुद्ध से जापान को बड़ा लाभ हुआ। पूर्वी एशिया की राजनीति में वह एक कदम और आगे बढ़ गया।

जापान द्वारा चीन से की गई इक्कीस माँगें—युद्धकाल में चीन पर प्रभाव जमाने का जापान को सुनहला अवसर मिला। उस समय यूरोप के सभी राज्य युद्ध में व्यस्त थे और चीन पर ध्यान रखने का किसी को समय नहीं था। जापान ने ऐसे अवसर से लाभ उठाने का निश्चय किया। उधर जापान में चीन विरोधी भावना भी जोर पकड़ती जा रही थी। चीन में क्रांति हो चुकी थी, मंचू-राजवंश समाप्त हो चुका था और चीनी गणराज्य अपने को सशक्त बनाने का प्रबल प्रयास कर रहा था।इस कारण जापानियों के लिए चिन्तित होना आवश्यक था, क्योंकि जापान का हित इसी बात में निहित था कि चीन हमेशा के लिए एक कमजोर देश बना रहे। सितम्बर, 1913 में चीनी गणराज्य के राष्ट्रपति युआन शीह-काई की सेना ने नानकिंग पर अधिकार करते समय जब वहाँ के जापानी निवासियों के साथ बुरा सलूक किया तो जापानी सरकार को हस्तक्षेप का मौका मिल गया। उसने अक्टूबर, 1913 को युआन को चेतावनी दी कि वह जापानियों की हत्या का मुआवजा दे। युआन को इसे मानना पड़ा और साथ में जापान को पाँच रेलमार्ग बनाने की अनुमति भी देनी पड़ी। इस बीच जापान में चीन को दबाने की माँग बराबर बढ़ती गई। अतः, 18 जनवरी, 1915 को पिकिंग स्थित जापानी राजदूत हीओकी एकी ने युआन शीह काई के सामने इक्कीस माँगें पेश कीं। इन्हें पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) शान्तुंग सम्बन्धी—जापान और जर्मनी शान्तुंग के बारे में जो भी फैसला करें, वह चीन को मान्य होगा। चीन उस इलाके में किसी अन्य देश को कोई पट्टा या अधिकार नहीं देगा और जापान को रेलमार्ग बनाने और बन्दरगाहों पर खुला व्यापार करने की छूट होगी। (2) दक्षिणी मंचूरिया और पूर्वी आन्तरिक मंगोलिया सम्बन्धी—जापान के इस इलाके के रेलमार्गों और बन्दरगाहों के पट्टों की अवधि 99 साल कर दी जाएगी; जापानी लोगों को वहाँ खुला सफर करने, बसने, उद्योग-धन्धे चलाने, कारोबार करने और जमीन-जायदाद बनाने का हक होगा। किसी दूसरे देश को ऐसी कोई सहूलियत देने या उसके सलाहकारों को बुलाने से पहले चीन को जापान से अनुमति लेनी होगी। (3) हान येह पिंग कम्पनी सम्बन्धी—यह लोहे और कोयले का काम करने वाली चीन की सबसे बड़ी कम्पनी चीन और जापान दोनों की सम्मिलित

होगी और इसे यांगत्सी नदी की घाटी में काम करने का पूरा हक होगा। (4) विदेश नीति सम्बन्धी—चीन जापान के अलावा किसी और देश को अपने तट पर कोई बन्दरगाह, खाड़ी या द्वीप पट्टे पर नहीं देगा। (5) जापानी आधिपत्य-सम्बन्धी—(i) चीनी सरकार जापानी राजनीतिक, वित्तीय और सैनिक सलाहकार रखने को बाध्य होगी, (ii) चीन अपने अन्दरूनी इलाके में जापानी अस्पताल, मन्दिर और विद्यालयों के लिए जमीन रखने का हक मानेगा, (iii) कुछ विशेष इलाकों में, जहाँ चीनी-जापानी झगड़े हो चुके हों, चीन की पुलिस उसके और जापान के मिले-जुले नियंत्रण में रहेगी, (iv) चीन जापान से पचास प्रतिशत के करीब युद्ध का सामान खरीदेगा या जापानी विशेषज्ञों द्वारा अपने युद्ध सामग्री के भण्डार चलाएगा, (v) दक्षिणी चीन में जापान को रेलमार्ग बनाने की इजाजत होगी, (vi) चीन में जापानी प्रचारकों को प्रचारकार्य का अधिकार होगा, (vii) चीन फूकिआन को जापानी प्रभावक्षेत्र के अन्तर्गत समझेगा।

चीन में इन माँगों से तूफान खड़ा हो गया। अतः, जापानी सरकार को पाँचवें भाग की माँगें वापस करनी पड़ीं। किन्तु, उसने मई में चीन को एक निश्चित अवधि के भीतर शेष चार भाग मानने के लिए चेतावनी दी। चीन को इन्हें मानना पड़ा। इसके सम्बन्ध में 25 मई, 1915 को चीन और जापान के बीच एक सन्धि हो गई। इस सन्धि के फलस्वरूप जापान के साम्राज्यवादी विस्तार में और वृद्धि हो गई। यूरोप के राज्य इस समय युद्ध में व्यस्त थे। अतएव, वे जापान की साम्राज्यवादी लिप्सा पर किसी तरह का रोक नहीं लगा सकते थे। वस्तुतः पूर्वी एशिया में मनमानी करने की जापान को पूरी छूट मिल गई थी।

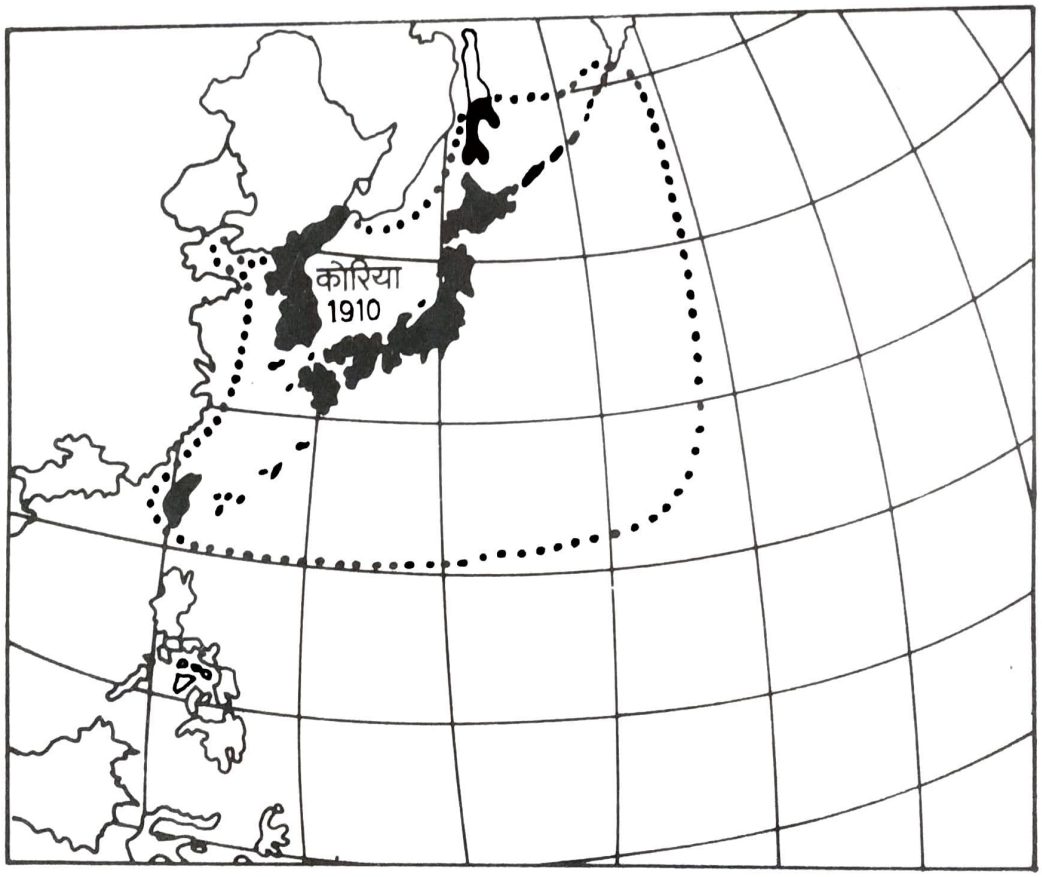

1910 से 1919 ई० के बीच जापान का साम्राज्यवादी प्रसार

[1895 ई० से ही कोरिया पर जापान की प्रभुता कायम हो गई थी, लेकिन जापान इसे पूर्णतः अपने साम्राज्य में शामिल कर लेना चाहता था। अतएव, 1910 ई० में एक घोषणा कर कोरिया को जापानी साम्राज्य का अंग बना लिया गया। प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होते ही जापान ने जर्मन अधिकृत क्षेत्र शान्तुंग पर अधिकार कायम कर लिया। साथ ही, उसने दक्षिण प्रशान्त महासागर के सैकड़ों छोटे-छोटे द्वीपों पर कब्जा कर लिया जो जर्मनी के अधिकार मे थे। युद्ध के समय जापान यह भी प्रयास करता रहा कि युद्धोपरान्त उसे इन भू-भागों पर अधिकार मिल जाए

1919 ई० के पेरिस के शान्ति सम्मेलन में जापान ने शान्तुंग पर दावा किया और उसका यह दावा मान लिया गया। प्रशान्त महासागर के द्वीपों पर उसे राष्ट्रसंघ की ओर से संरक्षक राज्य नियुक्त किया गया। लेकिन, जापान ने इन टापुओं को अपना उपनिवेश ही माना और इन पर मनमाना शासन करता रहा। इस तरह के द्वीपो की संख्या सैकड़ों में थी और नक्शे में वे अत्यन्त छोटे रूप में दिखाए गए हैं।]

1917 के शुरू में ब्रिटेन ने जापान को गुप्त आश्वासन दे दिया कि वे शान्ति सम्मेलन में जापान की उपलब्धियों को सुदृढ़ करने के लिए अपना पूरा समर्थन देंगे।

लन्सिंग-ईशी समझौता—लगभग इसी तरह का आश्वासन जापान को संयुक्त राज्य अमेरिका से भी मिल गया। नवम्बर, 1917 में अमेरिकी विदेश सचिव, राबर्ट लेन्सिंग और जापानी राजदूत ईशी कीकूजीरो में एक समझौता हुआ, जिससे अमेरिका ने प्रादेशिक निकटता के आधार पर चीन में जापान के विशेष हितों और अधिकारों को मान्यता दे दी।

उधर रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हो चुकी थी। इसलिए चीन में रूसी प्रभाव समाप्त हो गया था। रूस के अलग हो जाने से जापान इस क्षेत्र में घुस गया। चीनी सेनापतियों ने रेलमार्ग, खान, जंगल, तार के लिए जापान से अनेक ऋण लिए और बदले में जापान को मंचूरिया, मंगोलिया तथा शान्तुंग में और अधिक रेलमार्ग बनने का अधिकार दिया। फलतः, जापान पूर्वी एशिया की सबसे बड़ी शक्ति हो गया। इस प्रकार, प्रथम विश्वयुद्ध के काल में जापान ने खूब साम्राज्यवादी विस्तार किया।

पेरिस का शान्ति सम्मेलन और जापान—प्रथम विश्वयुद्ध ने जैसे यूरोप में पुराना शक्ति सन्तुलन नष्ट कर दिया, वैसी ही पूर्वी एशिया में भी शक्ति सन्तुलन नष्ट करने की दशा में बहुत योग दिया। विश्वयुद्ध के कारण जापान को एक नया दर्जा मिला। पेरिस के शान्ति सम्मेलन में भाग लेते हुए जापान को अपनी नई शक्ति का पूरा ज्ञान था। उसने महान शक्ति के रूप में मान्यता पाने का उपक्रम किया और इसमें उसे सफलता भी मिली।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के उपरान्त शान्ति समझौते के लिए 1919 ई० में पेरिस में जो सम्मेलन हुआ, उसमें जापानी प्रतिनिधि दल का नेतृत्व जापान के वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ सैयोनजी ने किया। सम्मेलन में जापान की मुख्य माँगें तीन थीं—(1) उत्तरी प्रशान्त महासागर में स्थित भूतपूर्व जर्मन द्वीप (मारियाना, कैरोलीन और मार्शल) उसे दे दिए जाएं, (2) शान्तुंग प्रदेश पर उसका दावा मान लिया जाए, तथा (3) प्रस्तावित राष्ट्रसंघ के लिए मूल सिद्धान्त के रूप में विभिन्न प्रजातियों का दर्जा बराबरी का मान लिया जाए। जापान के मत से ये उद्देश्य चाहे कितने ही अकाट्य और उचित क्यों न रहें हों, परन्तु उसके पुराने साथी देशों ने इसका तीव्र विरोध किया। इस विरोध के कई कारण थे। जर्मन द्वीपों पर जापान के दावे से विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की अवहेलना होती। क्याऊ चाऊ और शान्तुंग पर उसका दावा नवजात चीनी राष्ट्रवाद के प्रतिकूल होता। इसके अतिरिक्त प्रजातीय समानता की उसकी माँग पर अनेक ब्रिटिश डोमिनियनों, विशेष रूप से आस्ट्रेलिया में विरोध की लहर उठ गई। लेकिन जापान अपनी माँग पर डटा रहा। जब इन प्रदेशों पर उनके अधिकार के कायम रहने की सम्भावना नहीं रही तो जापानी प्रतिनिधि दल ने सम्मेलन से बहिष्कार की धमकी दी। जापान ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यदि उसका दावा स्वीकार नहीं होता तो वह राष्ट्रसंघ का सदस्य भी नहीं बनेगा। विल्सन पर इस धमकी का असर हो गया। अतएव, प्रशान्त महासागर में स्थित कई द्वीपों (इनकी संख्या सैकड़ों में थी) पर जापान के संरक्षण को मान लिया गया। इनमें याप द्वीपो सबसे महत्त्वपूर्ण था। इसका शासन उसे राष्ट्रसघ की सरंक्षण पद्धति के अन्तर्गत करना था। लेकिन, जापान ने इसके सम्बन्ध में किसी अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था की परवाह न की। उसने इन्हें अपने अधिकृत प्रदेशों जैसा समझा और इन पर अपना औपनिवेशिक शासन लाद दिया। शान्तुंग पर जापान के अधिकार को मान्यता दी गई, लेकिन जापान को यह वादा करना पड़ा कि वह अन्ततः यह भूभाग चीन को लौटा देगा। इस कारण जापान में सन्धि के प्रति घोर निराशा हुई। फिर भी, यदि पेरिस के शान्ति सम्मेलन में जापान की उपलब्धियों का लेखा-जोखा किया जाए तो यह प्रतीत होगा कि जापान के लाभ कुछ कम नहीं थ। वर्साय सन्धि के बाद वह संसार की एक महान शक्ति बन गया। पूर्वी एशिया में उसका स्थान अब सर्वापरि था और प्रशान्त महासागर में उसकी तूती बोलने लगी। इस आधार पर जापान अपने साम्राज्यवादी जीवन का द्वितीय चरण आरम्भ कर सकता था।

□□□